

शोध, समीक्षण, सृजन एवं संचार का

ISSN 2350-1065 MUKTANCHAL
खण्ड:4, अंक:11, जनवरी मार्च 2017

मुक्तांचल

मूल्य : 50 रुपये



विद्यार्थी मंच

उस पार से...

मुक्तिबोध

(१३ नवंबर १९१७ - ११ सितम्बर १९६४)



कलात्मक चिंतन के बिना समीक्षा-कार्य नहीं चल सकता। उसी प्रकार वास्तविक जीवन-ज्ञान और जीवन-चिंतन के बिना, उसका मानव-विवेक और कलात्मक विवेक (ये दोनों, एक तरह से पृथक् और दूसरी तरह से अभिन्न हैं) विकसित नहीं हो सकता। यह सही है कि प्रत्येक समीक्षक के अपने-अपने आग्रह होंगे, अपने अपने अनुरोध होंगे। किंतु इन आग्रहों और अनुरोधों को सार्थकता तभी प्राप्त होगी जब वह आग्रह वास्तविक कलात्मक मूल्यों और जीवन-मूल्यों पर-एक साथ दोनों पर-आधारित होगा। इन आग्रहों और अनुरोधों में सार्थकता तभी आयेगी जब समीक्षक स्वयं भीगा हुआ हो, वृथा-भावुक या वृथा-बौद्धिक न हो। भीगकर कहीं हुई जीवन-विवेकपूर्ण जरा सी बात का मूल्य सैद्धांतिक आवेश के प्रवाह में कहीं अधिक होता है। समीक्षक यदि स्वयं भीगा हुआ है, मानव-हृदय और मानव-प्रकृति में यदि वह मर्म-दृष्टि रखता है, अनुभव-संपन्न भाव-गंभीर विश्लेषण कर सकता है, ज्ञानात्मक संवेदनों से और संवेदनात्मक ज्ञान से परिपूर्ण है, तभी वह घनिष्ठ और आत्मीय बनकर उपस्थित हो सकता है- पाठक और लेखक दोनों का आत्मीय। यदि साहित्य-सृजन एक संघर्ष है- अभिव्यक्ति के मार्ग का संघर्ष- तो समीक्षा एक प्रेम-दर्शन है। ऐसा प्रेम-दर्शन जो आवश्यकता पड़ने पर अतिशय कठोर होता, किंतु सामान्यतः उदार और कोमल रहता है। ऐसी समीक्षा का विकास यदि समीक्षक करे, तो यह निश्चित है कि वह 'नेतृत्व' कर सकता है।

समीक्षा की समस्याएँ

शोध, समीक्षण, सृजन एवं संचार का

मुक्तांचल

त्रैमासिक

वर्ष-4, अंक- 11, जनवरी-मार्च 2017

संपादक : डॉ. मीरा सिन्हा
सह-संपादक : डॉ. अर्चना पाण्डेय
प्रकाशक : आनंद कुमार सिन्हा
प्रबंध संपादक : आनंद प्रसाद नोनिया
कला संपादक : शुभांगता श्रीवास्तव
आकल्पक : सोनू प्रजापति

भ्रमरत पद अख्यैतनिक

व्यवस्थापन :

प्रियंका सिंह, जीवन सिंह, परमजीत कुमार पंडित

विशेष सहयोग :

डॉ. मनीषा झा : उत्तर बंग विश्वविद्यालय, दार्जिलिंग
डॉ. इतु सिंह : खिदिरपुर कॉलेज, कोलकाता
सुलेखा कुमारी : विद्यासागर कॉलेज, कोलकाता
डॉ. पुनीत कुमार राय : शा. महाविद्यालय, शंकरगढ़, छत्तीसगढ़
राजीव रंजन : अरुणाचल विश्वविद्यालय, अरुणाचल

मुक्तांचल A/c- 50200014076551
HDFC BANK, BURRABAZAR,
KOLKATA- 700007
IFSC CODE- HDFC0000219

पत्रिका में व्यक्त विचारों से संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं
'मुक्तांचल' से संबंधित सारे विवादों के लिए न्याय-क्षेत्र
कलकत्ता उच्च न्यायालय होगा।

संपादकीय कार्यालय :

आधुनिक अपार्टमेंट, 6/2/1 आशुतोष मुखर्जी लेन
सलकिया, हावड़ा-711 106, पश्चिम बंगाल
संपर्क - 0332675 7195/1686
ई-मेल - muktanchalquarterly2014@gmail.com

संपर्क :

संपादक : 098314 97320,
Email : sinhameera48@gmail.com
सह- संपादक : 098308 39032
Email : pandeyarchanaphd@gmail.com
प्रबंध संपादक : 09748322234
Email : anand87prasad@gmail.com

मुद्रक : शिक्षण, 50, सीताराम घोष स्ट्रीट,
कोलकाता-700 009

आलोचना केंद्रित-अंक

मूल्य

एक अंक- ₹ 50/-

सदस्यता शुल्क

वार्षिक- ₹ 200/-, आजीवन- ₹ 2000/-

संस्थाओं के लिए

वार्षिक- ₹ 250/-, आजीवन- ₹ 2500/-

डाकखर्च (प्रत्येक अंक के लिए) अतिरिक्त ₹ 30 देय होगा।

‘केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा से सहयोग प्राप्त’

अवस्थिति

शोध	संस्तुति	
	आलेख	
समीक्षा	08 डॉ. सरजू प्रसाद मिश्र :	हिंदी आलोचना: दशा और दिशा
	12 डॉ. सूर्यप्रसाद दीक्षित :	कविता की परख की व्यावहारिक कसौटी
	24 राकेश भारतीय :	साहित्यिक आलोचना से अपेक्षाएँ
	27 डॉ. शशिभूषण द्विवेदी :	उनके बहाने वर्जित-फल के फलांश का समय-आख्यान और 'वे'
विमर्श	अनुशीलन	
	34 डॉ. व्यास मणि त्रिपाठी :	आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की आलोचना-दृष्टि
	40 डॉ. वेदप्रकाश अमिताभ :	नयी शती का कथालोचन: पुनर्मूल्यांकन की दिशाएँ
	विमर्श	
सृजन	46 डॉ. पाण्डेय शशिभूषण 'शीतांशु' :	आचार्य रामचंद्र शुक्ल का 'भाव'-विवेचन और 'उत्साह'- निरूपण: मनोवैज्ञानिक और चिंतनात्मक समीचीनता-असमीचीनता का प्रश्न !
	गवेषणा	
	58 मीना कुमारी :	मैथिली और हिंदी: नागार्जुन और डॉ. रामविलास की द्वंद्व-दृष्टि
	प्रतिलेखन/प्रतिलेख	
संचार	63 कुशेश्वर :	कविता गुमराह है
	66 कलाधर :	'मुक्तांचल' का कविता-केंद्रित अंक
	कविता	
	68 शैलेंद्र शांत :	खतरे बहुत हैं, ओ नन्हीं चिड़िया..., हालांकि, कि हंसी छूट गई!, दोस्त-दुश्मन, आना, हुआ तमाशा दिल्ली में!, वहीं है न!, कि मंजर बदलेगा, मन की बात, संक्षिप्त संवाद
	70 डॉ. ओमप्रकाश सिंह:	अविश्वास की भीड़ बहुत है, तंग जड़ों में अंकुर होंगे, कजरौटों के दिन

शोध	71 शोभा सिंह :	रियो दे प्लाता, विदेश में होली, खतरनाक समय, जंगल की आग
	74 उमा झुनझुनवाला :	मिलन, बदलाव, मई के लंबे दिनों में, हिज्जे
समीक्षा	स्रगम् के सुर साधे	
	76 सजेश जोशी :	परिन्दे पर कवि को पहचानते हैं, आईना, प्रतीक्षा, बेघरों का गाना, चुप और बातें
	नई पहल नया कदम	
	80 गौरव भारती :	शायद कोई पागल रहा होगा, ग्रहण
	कहानी	
ण	82 पूनम सिंह :	अस्मिता
	87 विद्या लाल :	अतीत के घेरे
	पिछले पन्ने से	
	92 रामदरश मिश्र :	एक औरत: एक जिंदगी
सृजन	साक्षात्कार	
	98 लक्ष्मण प्रसाद गुप्ता :	गंगा प्रसाद विमल से बातचीत
	पुस्तकायन	
	111 केवल गोस्वामी:	कविता और पाठक के रिश्ते
	113 अरुण अभिषेक :	अंतस् ऊर्जा से उष्मित कविताएँ
संचार	115 डॉ. सुभद्रा राठौर:	आंचलिकता की सौंधी महक
	गतिविधियाँ	
	118 साहित्यिक गतिविधियाँ	
	अभिमत	

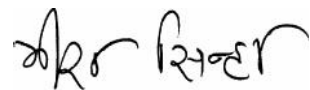
संस्तुति

सब कुछ दिखते हुए भी जब हमें कुछ नजर नहीं आता है तो उसे अतिक्रम नहीं दृष्टिभ्रम कहते हैं। पता नहीं इसका गर्द और गुब्बार क्यों है ? क्यों धुंधली पड़ रही है दृष्टि ? ? बेधने की जरूरत है—जान बूझकर तैयार किये गये मकड़जाल से निकलकर अलग खड़े होने की जरूरत भी, लेकिन हमारी कमजोरी यह है कि हमें सुरक्षा और संरक्षण दोनों का बेतरह इंतजार होता है। हम रचनाकार झूठी ही सही 'वाह' सुनना चाहते हैं और मिलजुल कर 'ना कह तू मेरी, ना कहूँ मैं तेरी' का माहौल रचते हैं। ऐसे क्रियाकलापों के लिए आभासी दुनिया से लगे रहना बहुत 'सूट' करता है। आत्म-प्रचार का युग है— धड़ल्ले से आत्मकथाएँ लिखी जा रही हैं। जो 'अपना' और निहायत 'निजु' है वह भी अगर नुमाइश पा ले, कोई ऐतराज नहीं। वह सब कुछ हाजिर है जो बेहतर बाजार के लिए लुभावने हों, कथा साहित्य हो या कविता पुस्तक २१वीं सदी में एक संस्कार आवश्यक है 'लोकार्पण' अथवा 'विमोचन'— पिछली सदी में ऐसा कोई चलन नहीं था लेकिन ऐसी पुस्तकें जिनके विचारों की तमीज होती थी खूब चर्चित होती थीं, विवादास्पद पुस्तकों का प्रकाशन आलोचना एवं प्रत्यालोचना के दौर से गुजरता था। समीक्षा की नई-नई कसौटियाँ तैयार हो जाती थीं— टूटती थी फिर बनती थी। साहित्यालोचन का क्रम शास्त्रीयता से शुरू होकर विविध सरणियों से होता हुआ फिर एक नये शास्त्र की तलाश में चलता रहता है। शास्त्रीयता आलोचना की आरंभिक कसौटी है। कुछ 'मान' तैयार किये जाते हैं और तय हो जाते हैं। परंतु समय के अनुरूप उनमें उलटफेर चलते रहते हैं। साहित्य के विविध विधाओं के तौल परख की दृष्टि बदलती है और मान तय होकर टूटते बनते रहते हैं।

भारतीय साहित्य में संस्कृत भाषा के व्याकरणनिष्ठ तत्सम स्वरूप के समानांतर पालि, प्राकृत, अपभ्रंश की लोकवादी साहित्यिक धारा फलवती और बलवती हुई, कालांतर में हिंदी भाषा सागर में शास्त्रीय और लोकवादी विभिन्न भाषाओं का समावेश होता रहा है और हिंदी नवजागरण युग की पुकार बनकर खड़ी हुई। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'साहित्य समाज का दर्पण है' की अवधारणा के साथ आलोचना की वस्तुवादी दृष्टि को क्रियाशील किया। प्रसाद ने 'स्वयंप्रभा-समुज्ज्वला-स्वतंत्रता' की पुकार को साहित्य में स्वर दिया। स्वाधीनता संग्राम की पृष्ठभूमि ने भाषा और साहित्य को अद्भुत शक्ति दी। आजादी की लगभग आधी सदी में शीत युद्ध एवं मोह भंग के अनंतर की भाषा इतनी भ्रष्ट नहीं हुई थी जितनी आज के धूर्त संसार के युग ने भाषा को भाव-विहीन कर दिया है। भाषा का स्वखलन

विचार विहीनता की निशानी है। लगता है निराला की उद्धोषणा 'गहन है यह अंधकारा स्वार्थ के अवगुंठनों से हुआ है लुण्ठन हमारा' अभी भी हमारे जातीय जीवन पर हावी है। समाज के दर्पण में जाति, धर्म, सम्प्रदाय, ऊँच-नीच की अनेक खाईयाँ प्रतिबिंबित हैं। 'राज' का समर जारी है परंतु 'नीति' विहीन, एक-दूसरे पर कीचड़ फेंकना कभी राजनीतिक वक्तव्य नहीं होता लेकिन हो रही रहा है। तस्वीर धुंधली है, गर्द और गुबार से भरी हुई है। तिक्त और तीक्ष्ण टिप्पणियों- 'जमकर हमला बोला' और 'पलटवार'- असभ्य और अशोभनीय भाषा से लबरेज कटुक्तियाँ चारों तरफ बिखरी पड़ी हैं। जनता को अपने-अपने दबाव के अनुसार इन्हीं में से किसी को चुनना है और सहना है। 'इन्कलाब' की बात अब कोई नहीं करता सिर्फ 'बदलाव' की बात सब करते हैं। तुष्टिकरण की राजनीति सर्वोपरि है। इन सारी हरकतों की ध्वनि शिक्षा और साहित्य में भी गूँज रही है। शोध और समीक्षा सभी स्वार्थपूर्ति के साधन हो गये हैं- डिग्रियाँ, नौकरियाँ एवं वजीफे बाँटने की चीज मात्र है- साहित्य का दरबार ईश्वर का दरबार है अगर कृपा दृष्टि हो गई तो नैया पार और बस चलेगा घर-बार-संसार और इसी को आज पीटा जा रहा है। विकास के नाम पर ह्रास हो रहा है मानवीय मूल्यों का। सजावटी जुमले, बने-बनाये आंदोलन दिखावे की दुनिया और हर बात का तमाशा आज की खासियत है। इस विविधवर्गी परिवेश में 'मुक्तांचल' भाषा और साहित्य के अनुरागियों तक अपनी कुछ ईमानदार कोशिश पहुँचाना चाहता है। यद्यपि कि आज के चलन के लोगों में इस पत्रिका को लेकर उपेक्षा एवं हिकारत का अंदाज है सिर्फ इसलिए कि हम वह सब नहीं करते जो आजकल सभी करते हैं। हमारा जुड़ाव साहित्य से रहा है जिसमें 'सहित' अर्थात् 'सबकी' भावना होती है लेकिन धनपतियों के खुले बाजार ने उसे वर्ग में विभाजित किया है। विशिष्ट और साधारण, वक्ता और श्रोता, मंचस्थ और सदन में उपस्थित और उनके बीच की गहरी खाई। मंचस्थ लोग अपनी बात कहकर चले जाते हैं किसी की सुनना उनका काम नहीं- छवियाँ जगह-जगह उद्भासित होती हैं- अनुरागी श्रोता स्वप्न देखता है। 'क्या कभी वह भी ऐसे ही...' और शुरू हो जाती है जुगत- हिंदी इसमें सबसे आसान है- ऊँची से ऊँची डिग्रियाँ प्राप्त कर लेना अगर किसी तरह पी.एच.डी. हो जाए तो रोजी-रोटी की समस्या मिट जायेगी- कुछ सामाजिक प्लस प्वाइंट है ही प्रवेश मिलते ही वजीफा भी मिलना निश्चित है- आर्थिक और सामाजिक लाभ के देवता के लाभ को पाने के लिए पुजारी अध्यापक तक पहुँचना आवश्यक है। भगवान का राजदूत पंडित जी ऐसे अनुष्ठान की तजबीज कर देंगे जिससे सारी सुविधाएँ मुकम्मल हो जायेंगी- उनके रसुखात अच्छे हैं- काम हो जायेगा- केवल भक्ति करो- अंधभक्ति- बगैर कोई सवाल उठाये कोई विषय ले लो- सामग्री मिल जायेगी- निदेशक महोदय के उनसे बड़े अच्छे संबंध हैं जिन पर शोधार्थी को शोध करना है- वे स्वयं इतनी सामग्री दे देंगे जिससे उन पर शोध संपन्न हो जायेगा, भक्ति की महिमा अपरंपार है- भक्ति स्थापित करती है- चलिए- दायें-दायें चलिए मंदिर इधर है देवता यहाँ है- आये और स्वयं को 'घ्राण प्राण' से शून्य कर चरणों में समर्पित कर दें। अध्ययन अध्यापन के लिए कक्षा करना आवश्यक नहीं है- संपर्क बनाना एवं गुरु के अनुष्ठानों को सफलीभूत करना ज्यादा आवश्यक है- वरदान दायी हिंदी की उच्च शिक्षा व्यवस्था इसी संवादहीन तहखाने में फंसी है।

फिलहाल, 'मुक्तांचल' एक मुहीम है। शोध एवं समीक्षण को एक मुकाम तक पहुँचाने की मुहीम, शोध-समीक्षण सृजन एवं संचार को स्वस्थ परिवेश गढ़ने के लिए, इस अंक में हमने आलोचना को केन्द्रित किया है, सिलसिला अभी जारी रहेगा, अगले अंक से हम ऐसे आलेखों को भी शामिल करेंगे जो विश्वविद्यालय से स्वीकृत शोध-प्रबंधों पर आधारित हों, विभिन्न विश्वविद्यालयों में होने वाले हिंदी भाषा साहित्य के शोध विषयों के बारे में जानकारी शोधार्थियों के लिए एक बेहतर माहौल की सृष्टि करेगा। 'मुक्तांचल' की कोशिश शोध एवं समीक्षण के प्रत्येक कोणों को उजागर करने की होगी।



संपादक

हिंदी आलोचना : दशा और दिशा

डॉ. सरजू प्रसाद मिश्र

भूतपूर्व अध्यक्ष एवं आचार्य

हिंदी विभाग, नागपुर विश्वविद्यालय, नागपुर

‘समीक्षा’, ‘समालोचना’ आदि शब्द आलोचना के पर्यायवाची हैं। ‘आलोचना’ की व्युत्पत्तिपरक अर्थ सम्यक निरीक्षण है। ‘आलोचना’ शब्द अंग्रेजी के ‘क्रिटिसिज्म’ के पर्याय के रूप में प्रयुक्त होता है। पहले सर्जनात्मक साहित्य अस्तित्व में आता है, उसके बाद आलोचना का प्रादुर्भाव होता है। आलोचना के कार्य-कलाप को किसी कृति के गुण-दोष विवेचन तक ही सीमित करना उचित नहीं है। क्या आलोचक बनना बहुत आसान है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए दिनकर जी ने लिखा है- ‘जो लोग यह समझते हैं कि समालोचना सीखने की चीज है वे गलती करते हैं। यह भी उसी प्रकार जन्मजात है जैसे कवित्व।’ डॉ. नगेन्द्र आलोचना को ललित साहित्य का अंग मानते हैं। इस स्थापना के पक्ष में उन्होंने जो तर्क दिए हैं, वे द्रष्टव्य हैं- ‘कवि, कथाकार और आलोचक की सर्जन-क्षमता में मात्रा और साधन उपकरण का ही भेद अधिक है। प्रकृति का भेद इतना नहीं है। जिस प्रकार काव्य भाव का उफान या कल्पना की क्रीड़ा नहीं है, इसी प्रकार आलोचना भी बुद्धि का विलास नहीं है। कविता, उपन्यास या नाटक की भांति आलोचना भी सर्जनात्मक संदर्शन (क्रिएटिव विजन) से अनुविद्ध एवं परिव्याप्त रहती है। कवि यदि रमणीय (राग कल्पनात्मक) अनुभूतियों के माध्यम से आत्माभिव्यक्ति करता है तो आलोचक कवि की इस अभिव्यक्ति के आख्यान के माध्यम से। इसी अर्थ में और इसी कारण से आलोचना को मैं ललित साहित्य का अंग मानता हूँ।’ मारक समीक्षाएँ लिखकर किसी कृतिकार को ध्वस्त करने का दावा करने वाले दंभियों को आलोचक की श्रेणी में रखा ही नहीं जा सकता। प्रसाद, निराला और प्रेमचंद को ध्वस्त करने वाले न जाने कहाँ बह बिला गये। ‘कामायनी’, ‘राम की शक्तिपूजा’ और ‘गोदान’ जैसी कृतियाँ हिमाद्रि तुंगभद्रा के समान आज भी दीप्तिमान हैं। आलोचना-पद्धति के तीन प्रधान चरण हैं- विषयबोध, व्याख्या-विश्लेषण और मूल्यांकन। आलोचक सर्वप्रथम आलोच्य कृति का अध्ययन करके उसमें निहित मूल भाव को ग्रहण करता है, तदुपरांत उसकी व्याख्या और विश्लेषण द्वारा उसके महत्त्व का मूल्यांकन करता है।

वही आलोचना महत्त्वपूर्ण होती है जो निष्पक्ष हो। टी.एस. इलियट श्रेष्ठ कवि ही नहीं प्रतिभाशाली समीक्षक भी थे। उनके अनुसार ‘आलोचक को व्यक्तिगत पूर्वाग्रहों तथा विभिन्न

धारणाओं से पृथक् रहना चाहिए।' डॉ. मैनेजर पांडेय ने समकालीन हिंदी आलोचना में व्याप्त एक कुप्रवृत्ति को 'लफंगई' का नाम दिया है। यह प्रवृत्ति उस आलोचना में दिखाई देती है जो व्यक्तिगत संबंध के बनने-बिगड़ने के अनुसार रचनाओं और रचनाकारों की कभी अतिरंजित प्रशंसा और कभी रक्तरंजित निंदा करती है।' कभी किसी पत्रिका में छपने का मार्ग प्रशस्त करने के लिए उसके संपादक की कृतियों की अतिरंजित प्रशंसा की जाती है। अभिनंदन ग्रंथों में प्रकाशनार्थ भी इस प्रकार की समीक्षाएँ लिखी जाती हैं। डॉ. मैनेजर पाण्डेय के अनुसार आलोचना या तो सार्थक होती है या निरर्थक। सार्थक आलोचना किसे कहेंगे? डॉ. पाण्डेय जी के अनुसार- 'आलोचना में अगर विचारों की नवीनता, व्याख्या की विश्वसनीयता और भाषा की रचनात्मकता एक सी है जो पाठकों की साहित्यिक समझदारी, उनकी सामाजिक संवेदनशीलता का विकास करें, उन्हें बेहतर मनुष्य बनाए तो वह सार्थक आलोचना की होगी अन्यथा निरर्थक, जिसे आलोचना कहना ही गलत है।' (आलोचना की सामाजिकता, पृ. ३३-३४) प्रामाणिक आलोचना रचना के अर्थ की खोज कर उसकी सार्थकता को रेखांकित करती है। रचना का अर्थ रचना से व्यंजित होना चाहिए, कहीं बाहर से लाकर उस पर आरोपित नहीं होना चाहिए। गजानन माधव मुक्तिबोध द्वारा लिखित 'कामायनी' की समीक्षा इस नियम का पालन नहीं करती है। उसे मार्क्सवादी चश्मे से देखा गया है और प्रतीकों से व्यंजित अर्थ की अनदेखी करते हुए 'कामायनी' को 'पलायनवादी कृति' घोषित किया गया है। मुक्तिबोध ने आंतरिक एवं प्रतीकात्मक रूप में वर्णित घटनाओं को भौतिक अर्थ में लेकर आलोचना के नाम पर घोर अनर्थ किया है। दूसरी ओर डॉ. नगेन्द्र ने 'कामायनी के अध्ययन की समस्याएँ' में कवि और कृतित्व के साथ पूरा न्याय किया है। समीक्षक ने 'कामायनी' में निहित अर्थ, सौन्दर्य एवं दार्शनिकता का उद्घाटन किया है। आलोचना पाठक की अर्थग्रहण क्षमता में अभूतपूर्व वृद्धि करती है। पाठक उससे लाभान्वित होता है।

हिंदी आलोचना का प्रारंभ भारतेंदु-युग से होता है, जहाँ नये-नये विचारों के आगमन एवं परंपरित प्राचीन

विचारों से उनकी टकराहट का परिदृश्य दिखाई देता है। पश्चिम के संपर्क ने शिक्षा और साहित्य को प्रभावित किया। एक नई चेतना उत्पन्न हुई जिसने आलोचना को गति दी। 'कविवचन सुधा', 'आनंद कादम्बिनी', 'सार सुधानिधि', 'हिंदी प्रदीप' आदि तत्कालीन पत्रिकाओं के माध्यम से भारतेंदु, प्रेमघन, बालकृष्ण भट्ट आदि लेखकों ने संपादकीय लेख, पुस्तक-परिचय, टिप्पणियों आदि के रूप में हिंदी आलोचना के प्रथम चरण का श्रीगणेश किया।

द्विवेदी युग में शुक्ल- पूर्व समीक्षा का निर्माण हुआ। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' के माध्यम से परवर्ती आलोचकों के लिए पृष्ठभूमि तैयार की। उनकी दृष्टि सुधारवादी और नैतिकवादी थी। मिश्रबंधुओं और पद्मसिंह शर्मा के बीच देव-बिहारी-द्वंद्व चला जिससे हिंदी आलोचना में तुलना और खंडन-मंडन की प्रवृत्ति विकसित हुई, जिसने भाव पक्ष और कला पक्ष के सूक्ष्म विवेचन-विश्लेषण को प्रोत्साहन दिया।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल हिंदी के सर्वप्रथम मौलिक और प्रौढ़ आलोचक हैं। तुलसीदास के अध्ययन एवं मनन के उपरान्त उन्होंने लोकमंगल का जो सिद्धांत प्रतिपादित किया उसे आगे चलकर मार्क्सवादियों का भी समर्थन प्राप्त हुआ। रस, साधारणीकरण एवं रहस्यवाद संबंधी उनकी विवेचनाएँ उन्हें पैनी दृष्टि एवं गहरी संवेदना से युक्त समीक्षक सिद्ध करती हैं। डॉ. नगेन्द्र ने ठीक ही लिखा है कि 'उनके समान मेधावी आलोचक किसी भी आधुनिक भारतीय भाषा में नहीं है।'

शुक्ल जी ने तुलसीदास की महत्ता का प्रतिपादन किया तो हजारी प्रसाद द्विवेदी ने निष्पक्ष होकर दो-टूक बात करने वाले कबीर के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का मर्म उद्घाटित किया। द्विवेदी जी ने हिंदी समीक्षा को एक नयी उदार और वैज्ञानिक दृष्टि प्रदान की। वे साहित्य को संस्कृति की जीवन-धारा का एक महत्वपूर्ण अंग मानते हैं। स्थान-स्थान पर इस विचार को उन्होंने व्यक्त किया है- 'मनुष्य की जीवन-शक्ति बड़ी निर्मम है। वह सभ्यता और संस्कृति के वृथा मोहों को रौंदती चली आ रही है।... देश और जाति की विशुद्ध संस्कृति केवल बात की बात है। शुद्ध है किवल मनुष्य की दुर्दम जिजीविषा। वह गंगा की

अबाधित अनाहत धारा के समान सब कुछ को हजम करने के बाद भी पवित्र है।' (अशोक के फूल)

शुक्ल जी की समीक्षा में तटस्थता और उदारता की अपेक्षाकृत कमी है लेकिन द्विवेदी जी के समीक्षात्मक लेखन में पूर्वाग्रह है ही नहीं। वे साहित्य को सामान्य जन के जीवन से विच्छिन्न नहीं मानते। वे मानव मात्र की एकता में विश्वास करते हैं। यह उदारता उन्हें रवीन्द्र-संपर्क और शांति निकेतन निवास से उपलब्ध हुई। द्विवेदी जी ने शुक्ल जी द्वारा उपेक्षित युगों और कवियों को अपनी समीक्षा का विषय बनाया है। उनकी इतिहास संबंधी मान्यता 'हिंदी साहित्य की भूमिका', 'कबीर', 'हिंदी साहित्य का आदिकाल', 'नाथ संप्रदाय', 'मध्यकालीन धर्मसाधना', 'सूर-साहित्य' आदि समीक्षात्मक कृतियों में व्यक्त हुई है।

शुक्लोत्तर हिंदी-समीक्षा के क्षेत्र में आचार्य नंददुलारे वाजपेयी का स्थान अत्यंत महत्वपूर्ण है। वे हिंदी-समीक्षा की सौष्ठववादी धारा के प्रतिष्ठापक हैं। यह धारा रस-सिद्धांत के व्यापक और विशद रूप को अपना कर चलती है, इसलिए उसे पश्चिम के स्वच्छंदतावाद का अविकल अनुकरण नहीं कहा जा सकता। आचार्य शुक्ल के काव्य-सिद्धांत तुलसीदास के आधार पर निर्मित हुए हैं तो वाजपेयी जी की मान्यताएँ प्रसाद से प्रभावित हैं।

डॉ. नगेन्द्र का प्रमुख क्षेत्र काव्यालोचन है, जिसकी सीमा छायावादी कविता है। इन्होंने कई दृष्टियों से शुक्लोत्तर समीक्षा को समृद्ध किया है। इस समीक्षा की मुख्य प्रवृत्तियों-शास्त्रीय, सौष्ठववादी, मनोवैज्ञानिक, समाजशास्त्रीय, ऐतिहासिक, सैद्धांतिक और शोधपरक में से कइयों को अपने योगदान से परिपुष्ट किया है। साहित्य अकादमी पुरस्कार प्राप्त 'रस-सिद्धांत' नामक ग्रंथ डॉ. नगेन्द्र की समीक्षात्मक प्रतिभा का सर्वोच्च शिखर है। उन्होंने रसवाद को उसके रूढ़ में स्वीकार नहीं किया है वरन् उसको आधुनिक युग-बोध एवं परिवेश के संदर्भ में देखने का प्रयास किया है।

'इतिहास और आलोचना', 'छायावाद', 'कविता के नये प्रतिमान', 'दूसरी परंपरा' आदि ग्रंथों के रचयिता डॉ. नामवर सिंह ने हिंदी आलोचना के क्षेत्र में ताजी हवा के प्राणदायक झोंके के रूप में प्रवेश किया और अपनी अद्भुत

वाग्मिता और विवेचन क्षमता के द्वारा सबको अभिभूत कर दिया। उनके समीक्षात्मक लेखन का गंभीरतापूर्वक अध्ययन करने से उनके अन्तर्विरोध उभर आते हैं। अपने पूर्वकथनों को काटते चलते हैं। डॉ. मैनेजर पाण्डेय द्वारा दिए गए उदाहरणों में से कुछ को यहाँ उद्धृत करना समीचीन होगा। साहित्य और राजनीति के संबंध के बारे में नामवर सिंह ने सन् १९६७ में लिखा था- 'जागरूक कवि अपने कवि-कर्म के दौरान सतर्कता के साथ राजनीतिक संदर्भ को परिभाषित करते चलते हैं और इस प्रकार सीधे-सीधे राजनीतिक विषयों पर कविता न लिखते हुए भी अपनी प्रत्येक रचना को एक निश्चित राजनीतिक अर्थ दे देते हैं। महत्वपूर्ण है राजनीतिक संदर्भ का गहरा और सही बोध।' सन् १९७४ में उनका दृष्टिकोण परिवर्तित हो गया है। 'आलोचना-२९' के संपादकीय में वे लिखते हैं- 'राजनीतिक परिवर्तन को लक्ष्य में रखते हुए भी एक लेखक के नाते वह अपनी रचनाओं के द्वारा सांस्कृतिक परिवर्तन की दिशा में सक्रिय होता है क्योंकि सांस्कृतिक परिवर्तन के बिना राजनीतिक परिवर्तन कठिन है। एक स्थान पर उन्होंने लिखा है- 'अनेक युवा लेखक की दृष्टि में राजसत्ता केवल दमन का अस्त्र है। इस पर डॉ. मैनेजर पाण्डेय की टिप्पणी है- 'विचार करने की बात यह है कि राजसत्ता दमन का अस्त्र नहीं तो और क्या है?' (आलोचना की सामाजिकता, पृ. ६२) सन् १९५०-५५ में वे लोकजीवन में प्राणदायिनी शक्ति देखते थे, लेकिन १९७४-७५ में उन्हें लगता है कि 'ताजगी और जीवंतता लोकसंस्कृति तथा लोकसाहित्य के प्राकृतिक गुण नहीं है।' इस पर पाण्डेय जी की टिप्पणी है- 'यह प्रश्न उठ सकता है कि फिर ताजगी और जीवंतता कहाँ होती है? क्या बुर्जुआ संस्कृति और बुर्जुआ साहित्य में या और कहीं? (उपर्युक्त, पृ. ६७) इस प्रकार के वैचारिक 'पल पल परिवर्तित प्रकृति वेश' को धुरीहीनता कहें या कुछ और? 'कहानी, नई कहानी' कथा-समीक्षा की दिशा में नामवर सिंह का महत्वपूर्ण प्रयास है। इस पुस्तक में कथा-समीक्षा के परंपरित ढाँचे से हटकर नूतन प्रतिमान गढ़ने का प्रयास है। खेद की बात है कि उन्होंने इस कार्य को आगे नहीं बढ़ाया और एक बहुत बड़ी संभावना कुम्हला गई।

मार्क्सवाद से प्रभावित प्रगतिशील साहित्य की पोषक हिंदी की मार्क्सवादी समीक्षा के श्वेत-श्याम दोनों पक्ष हैं। उसने यदि साहित्य में सामान्य जन के जीवन और उसके यथार्थ को महत्व दिया तो रचनाकारों को प्रगतिशील और गैर-प्रगतिशील (व्यक्तिवादी) के वर्गों में बाँटकर 'सप्तक' एवं 'परिमल' से जुड़े साहित्यकारों की उपेक्षा की और उन्हें जनविरोधी घोषित किया। यदि मुक्तिबोध महत्वपूर्ण कवि हैं तो अज्ञेय का साहित्यिक प्रदेय भी नकारा नहीं जा सकता। 'अंधेरे में' जैसी ही महत्वपूर्ण कविता है 'असाध्य वीणा'। साम्यवादी व्यवस्थाओं के ध्वंश के बाद मार्क्सवादी समीक्षकों ने आत्मचिंतन पर अपनी संकीर्णता के घेरे से बाहर आने का प्रयास शुरू कर दिया है और इसके अच्छे परिणाम दिखाई देने लगे हैं।

समकालीन साहित्यिक परिदृश्य में नए विमर्शों से उद्भूत नूतन चेतना ने नारी एवं दलित केन्द्रित साहित्य-सृजन को प्रोत्साहित किया है। दलित लेखकों ने परंपरित सौन्दर्यशास्त्र पर अभिजात्य वर्ग से सम्बद्ध होने का आरोप मढ़कर इसे अपनी रचनाओं के मूल्यांकन हेतु अपर्याप्त मानकर नए सौन्दर्य शास्त्र की रचना की आवश्यकता प्रतिपादित की है।

नारी-विमर्श ने पितृसत्तात्मक समाज रचना से उद्भूत मूल्यों पर करारा प्रहार किया है। इससे हिंदी समीक्षा के अब तक चले आए ढाँचे में भी टूट फूट की आशंका व्यक्त की जा रही है।

समकालीन हिंदी आलोचना की भाषा पाठकों के लिए ग्रीक और लैटिन बनती जा रही है। कुछ आलोचकों की भाषा अनुवाद की भाषा लगती है। उनका कथ्य समझ से परे होता जा रहा है। कुछ महानुभाव तो अनुवाद का कष्ट भी न उठाकर अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग करते हुए समीक्षा लिख रहे हैं। समय रहते आलोचना की भाषा को इस बीमारी से बचाना जरूरी है। उनसे निवेदन किया जाना चाहिए कि वे अंग्रेजी में ही लिख कर अपनी वाग्मिता का प्रदर्शन करें। हमें तो जरूरत है रामचंद्र शुक्ल, हजारी प्रसाद द्विवेदी, रामविलास शर्मा, विजयदेव नारायण साही और नामवर सिंह की सहज, संवेदनशील और जानदार भाषा की। समीक्षा का अर्थ पहेलिया बुझाना या रहस्यवाद की रचना करना नहीं है। हमारे सामने शमशेर का आदर्श होना चाहिए- 'बात बोलेगी, हम नहीं/ भेद खोलेगी बात ही।'

संपर्क:

46, पठान ले-आऊट, रिंग रोड,
नागपुर- 440022, मो. 9422148067

कविता की परख की व्यावहारिक कसौटी

डॉ. सूर्यप्रसाद दीक्षित

प्राक्तन अध्यक्ष एवं आचार्य

हिंदी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय

कविता की परख और पहचान की कितनी ही कसौटियाँ भिन्न-भिन्न देश कालों में निर्मित हुई, लेकिन आज तक कोई सार्वजनिक और सार्वकालिक प्रतिमान निर्मित नहीं हो पाया है। इसके मुख्य चार कारण रहे हैं:-

१) कविता को कविता के रूप में न परख करके सांप्रदायिक-दार्शनिक मतवादों में विभाजित कर दिया गया। भारतीय काव्यशास्त्र में कोई सिद्धांत वेदांत से प्रभावित है, कोई शैवागम से। यही स्थिति पश्चिमीवादों की रही है। वहाँ विचारधाराओं के आलोक में कविता को व्याख्यायित किया गया। कोई मार्क्स से प्रभावित, कोई फ्रायड से। कहीं मनोविज्ञान हावी, तो कहीं समाजशास्त्र। परिणामतः कविता गौण हो गई और साहित्येत्तर प्रतिमान प्रमुख हो गए। इसका कुफल यह हुआ कि कविता का 'कवितापन' इन साहित्येत्तर अवधारणाओं के नीचे कहीं दब गया।

२) पिछले दशकों में काव्य-विवेक में वैयक्तिक रुचि-विपर्यय ज्यादा भर गया। एक ओर कवि विवक्षित भाव, दूसरी ओर सहृदय समाज का काव्यबोध और तीसरी ओर समीक्षक का अपना एकाकी एकाग्रही मंतव्य। तीनों में एकतानता नहीं रह गई और तब कविता व्यक्तिगत पूर्वग्रहों में उलझ गई। वस्तुस्थिति यह है कि कविता में 'कवि विवक्षा' बहुत महत्वपूर्ण होती है, पर उससे भी बहुत महत्वपूर्ण होती है उसकी अपनी अभिव्यक्ति अर्थात् शब्द-शब्द वाचकता। इसे ही 'गद्यं कवीनां निकषं' कहा गया था। आवश्यक यह है कि शब्द-शब्द को सही संदर्भ में पहचाना जाए। इसके लिए अपेक्षित है- वस्तुनिष्ठता और गूढ़ार्थग्राहिणी क्षमता।

३) इस बीच कविता को समग्र रूप में नहीं, बल्कि विभिन्न रूपाकारों में तोड़-तोड़ कर देखने का उपक्रम किया गया है। रूपवादी, विखंडनवादी, संरचनावादी एवं शैली वैज्ञानिक समीक्षा में पूरी कविता को न परख करके शब्द, शिल्प, बिंब तथा प्रतीक को उपलक्षित किया गया है। इससे कविता समग्रतः मूल्यांकित नहीं हो पाती।

४) पिछले दशकों में देश-विदेश की कविता ने वस्तु और शिल्प के स्तर पर जितने रूप बदले हैं, दूसरी ओर जनजीवन में मूल्यों का जितना संक्रमण हुआ है, उसके कारण कविता का अर्थापन बहुत जटिल हो गया है। सहजोद्रेक न रचयिता में है और आस्वादक में। इससे कविता की पहचान लुप्त हो गई है।

तात्पर्य यह है कि कविता की सभी, भारोपीय कसौटियाँ बेमानी हो गई हैं। 'कविता क्या है' पर आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी और आचार्य शुक्ल से लेकर आज तक बहस जारी है। फिर भी काव्य कलेवर के समस्त परमाणु अभी तक संगठित नहीं हो पाए हैं।

यदि हम काव्यशास्त्रीय जटिलता और 'जागिन्स' को लोभ संवरण करके सहज भाव से कविता के सहज स्वरूप को हृदयंगम करना चाहें तो इन घटकों अथवा उपादानों के माध्यम से काफी कुछ कर सकते हैं।

१) संवेदना : यह कविता का प्राणतत्त्व है। सर्वाधिक मर्मस्पर्शी तत्त्व। कवि जब अपने में डूबकर लिखता है, निश्छल भाव से अपने को उलीच देता है और सहजतः अंतर्मुख होकर आत्मचैतन्य को स्वर देने लगता है तो संवेदना की सहज सृष्टि होती है और वह निरायास सहृदय को छू लेती है। कबीर जब कहते हैं-

*'सुखिया सब संसार है, खाये अरु सोवै।
दुखिया दास कबीर है, जागै अरु रोवै।'*

अथवा

*'संतों देख्यो जब बौराना।
साँच कहों तौ मारन धावै, झूठ कहों पतियाना।'*

तो इन पंक्तियों में एक बेधक आत्मानुभूति फूट पड़ती है। सहज निराडंबर आत्मकथ्य। ये कथन स्वतः संप्रेषित होने लगते हैं। यहाँ कविता की सजावट नहीं है, फिर भी यह एक सशक्त कविता है।

इसी प्रकार निराला जब स्वतः कह उठते हैं-

*'सोचा न कभी।
अपने भविष्य की रचना में चल रहे सभी।'*

अथवा

*'जीवन की गति कुटिल अंधतम जाल।
जहाँ हाय केवल श्रम, केवल कर्म कठोर।'*

अथवा

*'मन का समाहार, करो विश्वाधार।
कोई और, दूर सब जन पौर।
करो भव से पार।'*

इन पंक्तियों में एक विशिष्ट प्रकार की आकुलता है, विशेष प्रकार की छटपटाहट है, जो अपने साथ पाठक को

लपेट लेती है। ऐसी ही सघन संवेदना मुक्तिबोध ने व्यक्त की है-

"जीवन क्या जिया? अब तक क्या किया।"

इसी प्रकार की प्रगाढ़ अनुमति धर्मवीर भारती की 'कनुप्रिया' में है। हृदयहीनों ने रोमांटिकता कहकर उसे नजरअंदाज किया है, जबकि कविता की बीजशक्ति है वह संवेदना। यही रोमांटिकता निराला के गीत-

*"बाँधों न नाव इस ठाँव बंधु,
पूछेगा सारा गाँव बंधु।"*

में मुखरित हुई है। यहाँ असफल मूक प्रणय के भावोद्गार व्यंजित हुए हैं। यह एक चोट खाए हुए प्रणयी की विरह वेदना है। पाश्चातापपूर्ण एक निवृत्तिमूलक अहसास के साथ।

हिंदी कविता में यह संवेदना तत्त्व सर्वाधिक प्रभावी रहा है। इसे रस-सिद्धांत, ध्वनि, अलंकार आदि में बाँट कर तोलने का बहुत उपक्रम किया गया है, जबकि आवश्यकता है, उसे सम-अनुभूति के धरातल पर उतारने की। यह केवल सहृदय के वश की बात है। इसे बुद्धि विभ्रमयुक्त कूट, तर्कों और अनास्थाजन्य उपागमों द्वारा पकड़ पाना संभव नहीं है।

२) साफगोई : प्रत्येक सफल कविता पारदर्शी होती है। उसमें गूढ़ार्थ व्यंजना के साथ-साथ सपाट बयानी का गुण होता है। रचयिता जब जीवन के किसी बड़े सत्य का साक्षात्कार कर लेता है तो वह 'सरल कवित्त कीरति बिमल' के स्तर पर उतर आता है। गोस्वामी जी जब 'विनय पत्रिका' में लिखते हैं-

'कबहुँक हों यह रहनि रहोंगो।

परुष बचन अति दुसह श्रवन सुनि, तेहि पावक न दहोंगो।

जथा लाभ संतोष सदा, काहू सों काछु न चहोंगो।"

इस पद में निष्कपट भाव से उन्होंने अपने मन की बात व्यक्त की है। न अंतर्वस्तु में कोई प्रपंच है और न अभिव्यक्ति में। यह सादगी मन को द्रवित कर देती है। यहाँ कविता अपने प्रकर्ष पर है। निराला की इन पंक्तियों में-

*"बाहर मैं कर दिया गया हूँ।
भीतर पर भर दिया गया हूँ।"*

सरलतम शब्दबंध, किंतु गूढ़-गहन चिंतन। निराला का

कवि, भद्र समाज से बहिष्कृत, किंतु उसका अंतस् भरा-पूरा अर्थात् एक परिपूर्ण व्यक्तित्व। इस प्रकार की साफगोयी उनके गीतों और 'सरोज स्मृति' जैसी लंबी कविताओं में भरी पड़ी है। हिंदी में इस परंपरा को आगे विकसित किया है- बच्चन ने और भवानीप्रसाद मिश्र ने। बच्चन जी की एक पंक्ति-

“यदि छिपाना जानता तो
जग मुझे साधू समझता।”

अपनी सादगी के कारण ही प्रभावित करती है। यह साफगोयी भवानी भाई के गीत-

“जी हाँ, हुजूर मैं गीत बेचता हूँ।”

में चरम सीमा पर पहुँच गई है। इसी प्रकार का एक उदाहरण 'साकेत' से दिया जाना अभीष्ट है। लक्ष्मण के वनगमन के बाद उर्मिला की दिनचर्या का उल्लेख करता हुआ कवि कहता है-

‘रीता दिन बीता, रात हुई।
ज्यों-त्यों वह रात प्रभात हुई।
फिर सूनी-सूनी साँझ हुई।’

इसमें चौबीस घंटे का कालक्रम है। रीता दिन, सूनी साँझ जैसे शब्दों की व्यंजना बड़ी गहरी है, पर पूरे पदबंध में गजब की साफगोयी है। वस्तुतः सुगमता को कविता का महाभाव कहा जा सकता है। जब शब्द सरल हो जाते हैं तो भाव गहन हो जाते हैं। शब्द के कलाकैतव में तो प्रायः बालकमन ही उलझा रहता है। भाव की उच्च दशा पर पहुँचकर शब्द नहीं, बल्कि उसकी मौन-मुखर अनुभूति कविता बन जाती है।

कविता में गूढ़ का बड़ा महत्व रहा है, इसीलिए ध्वनि, वक्रोक्ति, अलंकार आदि को इतना प्रश्रय मिला है। कभी-कभी रचनाकार अंतर्गुहा में प्रवेश कर जाता है और ऐसी गूढ़ोक्तियाँ लिख देता है, जिन्हें पूरे आयतन में ग्रहण कर पाना कठिन हो जाता है। कला प्रायः रहस्य-गोपन में प्रकट होती है। आचार्य केशवदास सरस्वती की वंदना करते हुए लिखते हैं-

‘पति बरनै चारिमुख, पूत बरनै पाँच मुख।
नाती बरनै षट्मुख, तदपि नई-नई।।’

यहाँ पति, पुत्र और नाती निहितार्थ हैं- क्रमशः ब्रह्मा,

शिव और षडानन। यह गूढ़ार्थ का उत्कृष्ट उदाहरण है। इसी प्रकार की गहनता सूरदास के पद-

‘पिया बिना नागिन कारी रात’

जैसे दृष्टिकूटों में और कबीर की उलट बाँसियों में देखी जा सकती है। यदा-कदा कविता के भाव पत-दर-पत खुलते हैं। उन्हें प्रथम दृष्टया लक्षित नहीं किया जा सकता। कविता का मनोबोध भीतर गहरे पैठने पर होता है। प्रसाद जी की ये पंक्तियाँ देखिए-

“उषा की पहली लेखा कांत,
माधुरी से भीगी भर मोद।
मद भरी जैसे उठे सलज्ज,
मोर की तारक द्युति की गोद।”

यहाँ अर्थ में कई तहें हैं। अर्थागम के कई मोड़ हैं।

गूढ़ और क्लिष्ट में अंतर होता है। क्लिष्टता अभिव्यक्ति की अक्षमता के कारण उत्पन्न होती है जबकि गूढ़ता कवि कोविद की पंडिताई का प्रमाण देती है। मध्ययुगीन काव्य में, विशेषतः रीति परंपरा में ‘कवि शिक्षा’ प्रकरण के अंतर्गत हमारे कवि-आचार्य बौद्धिक रियाज के उद्देश्य से गूढ़ोक्तियों का अभ्यास कराया करते थे। इसी ध्येय से संध्या भाषा, कूट पद, उलटबाँसी, मुकरी, पहेली, मसलानामा, वाक्पदीय और नकेन के प्रपद्यो की रचना की गई है। कालांतर में इसे ‘रीति बुझावल’ कहकर उपेक्षित कर दिया गया, किंतु आज ‘कविता की वापसी’ का नारा लगाते हुए टी.वी. क्वीज की शैली में गूढ़ काव्य के पुनर्भव की माँग की जा रही है।

४) उक्ति वैचित्र्य : कविता में कथ्य से कम महत्त्व कथन चातुरी का नहीं है। उर्दू कविता तो इसी ‘अंदाजे बयाँ’ के बल पर जीवित है। प्राचीन हिंदी कविता में ऊहा शक्ति को बहुत सराहा गया था। वक्रोक्ति को इसीलिए काव्य की संजीवनी शक्ति कहा गया था। वस्तुतः कविता की उत्कृष्टता का उदाहरण वाग्वैदग्ध्य में मिलता है। सिद्धांत कथनों में वैदग्ध्य पूर्ण भावोच्छ्वासों का प्रयोग भले ही वर्जित रहा हो जैसे गीता में ‘पुष्पिता वाणी’ का परहेज किया गया है, किंतु सर्जनात्मक लेखन में वक्रता को बहुशः सराहा गया है। यह वक्रोक्ति तो पद, पदार्थ, प्रबंध-तत्त्व आदि में भी होती है, किंतु यह सर्वाधिक प्रभावी होती है

उक्तियों में। कहीं प्रत्युत्पन्नमति में, कहीं युक्तिकौशल में और कहीं शब्दसंरचना में। केशव के इस कथन—

“तातै मुख मुखै सखी कमलौ न चंद री।”

में विलक्षण उक्तिवैचित्र्य है। मतिराम का एक छंद इस दृष्टि से विचारणीय है

पावस की संध्या और मुक्ताकाश। आश्रय आलंबन रसालाप की स्थिति में है। सहसा नायक के मुँह से प्रवास-प्रस्थान की सूचना फूट पड़ती है। हँसती-मुस्कुराती हुई नायिका का आह्लाद देखते ही देखते विषाद में बदल जाता है। कवि लिखता है—

‘आखिन ते गिरे आँसू की बूँद सुहास गया उड़ि हंस को भाई।’

इस भाव संधि में अद्भुत उक्तिवैचित्र्य है। इसी प्रकार देव की यह पंक्ति देखिए। कृष्ण के रंग में सराबोर एक नायिका का कथन है—

‘हौं तो श्याम रंग में चुराय चित चोरा-चोरी।

बोरत तौ बोरै पै निचोरत बनै नहीं।’

उक्तिवैचित्र्य का एक बड़ा सुंदर उदाहरण ‘साकेत’ में लक्ष्मण-उर्मिला संवाद में द्रष्टव्य है। उर्मिला अपने प्रिय के प्रति कटाक्ष करते हुए कहती है—

‘स्वप्ननिधि से नयन कब से लग गए।’

उत्तर में लक्ष्मण कहते हैं—

‘मोहिनी ने मंत्र पढ़ जब से छुआ,

जागरण प्यारा तुम्हें जब से हुआ।’

उक्त वार्तालाप में स्वप्ननिधि (निद्रा) और जागरण जैसे विपरीत लिंगीय शब्दों के प्रयोग दंपति द्वारा कराए गए हैं। छायावादी कविता में तो उक्ति वैचित्र्य के उदाहरण भरे पड़े हैं। कविता जहाँ अत्यंत प्रचलित पद्धति का तिरस्कार करती हुई अपनी नई व्यंजनाएँ प्रस्तुत करती हैं और अभिधा नहीं, बल्कि लक्षणा-व्यंजना का आश्रय लेकर रूढ़ अर्थ से भिन्न नई अर्थच्छवियाँ जाग्रत करती हैं, वहाँ एक विशिष्ट कोटि का उक्ति-वैचित्र्य स्वतः उत्पन्न हो जाता है।

५) नवोद्भावना:

कविता की सर्वोच्च उपलब्धि है— नई सूझ। उसके लिए अपेक्षित है उद्भावनाशक्ति। शास्त्र में इसे ही प्रतिभा और कल्पनाशक्ति कहा गया है। हर सूझ के लिए उपज

चाहिए। उपमा, उत्प्रेक्षा, दृष्टांत, अतिशयोक्ति आदि अलंकार इसी उद्भावना की देन हैं। लंकादहन के समय हनुमान की विशाल लांगूल की कल्पना करते हुए गोस्वामी जी कैधों, कैधों कहते हुए उत्प्रेक्षाओं की तो झड़ी लगा देते हैं, जैसे—

‘तुलसी सुरेश चाप, कैधों दामिनि कलाप,

कैधों चली मेह ते कृशानु सटि झरी है।’

यहाँ ‘कैधों’ की आवृत्ति कवि की भावाकुलता का प्रमाण है। प्रातिभ कवि जो दृश्य विधान अथवा बिंब विधान करता है, उसमें सर्वाधिक योगदान नवोद्भावना का ही होता है। बिहारी ‘पीत पट’ ओढ़े हुए कृष्ण की वर्णच्छटा का रूपांकन करते हुए उत्प्रेक्षा देते हैं कि मानो नील गिरि पर उषाकालीन लालिमा फैल गई है। इसमें एक विशेष प्रकार की रंग रचना की गई है। इसका एक बड़ा सुंदर उदाहरण एक अल्पख्यात कवि नृप शंभु के एक छंद में देखा जा सकता है। शर पूनो की रात में एक अभिसारिका संकेत स्थल की ओर जा रही है। उसे देखकर इन चारों के मनोमस्तिष्क में चार अलग-अलग प्रतिच्छवियाँ उभरकर आ रही हैं। चोर को लगता है कि सोना ही मूर्तिमान होकर चलता चला आ रहा है। भँवरे को प्रतीत होता है जैसे लता बढ़ी आ रही है। चकोर को ऐसा लगा जैसे चंद्रमा धरती पर उतर आया है और मोर को यह महसूस हो रहा है मानो बिजली बादलों से उतरकर धरती पर कौंध उठी है। कवि के शब्दों में— “धामीकर चोर जान्यो, चम्पलता भँवर जान्यो, चंद्रता वकोर जान्यो, मोर जान्यो दामिनि।” यह नवोद्भावना का ही चमत्कार है। कवि प्रकृत्पा कल्पक होता है। बादलों को देखकर कवि पंत के मन में भाँति-भाँति की सूझें पैदा होती हैं। वे कल्पना की झड़ी लगा देते हैं। इधर प्रयोगवाद के दौर में ये उद्भावनाएँ बदली हैं, लेकिन विलीन नहीं हुई हैं। ‘बाजरे की कलगी’ के ब्याज से अज्ञेय नायिका के लिए नई-नई उपमाएँ गढ़ते हैं। उसे साँझ के नभ की ललाती तारिका, चंपा कली आदि न कहकर बाजरे की कलगी से उपमित करते हैं। इससे कवि के नव सौंदर्यबोध की नवोद्भावना मुखरित हुई है। निश्चय ही इसमें उपमानों की ताजगी है।

६) रहस्यदर्शन : कविता केवल कला ही नहीं है, प्रथमतः वह एक विशिष्ट बोध है, अनुशासन है अर्थात्

अंतर्वस्तु है। वह व्यक्ति, समाज, इतिहास, रहस्य, अध्यात्म दर्शन आदि से अपनी खुराक निकालती है। दर्शन को काव्योपम बना देना उसकी सर्वोच्च सिद्धि है। दैनंदिन जीवन बोध को उदात्त बोध में रूपांतरित कर देना उसकी सार्थकता है। गोस्वामी जी ने 'केशव कहि न जाइ का कहिए' पद में जिस प्रकार सांप्रदायिक मतवादों का निरसन करते हुए एक रूपक, रचना के सहारे आत्मबोध को स्वर दिया है, वह उनके संरचनात्मक चिंतन की पराकाष्ठा है। कामायनीकार ने त्रिपुर रहस्य को जिस सरसता और विराटता के साथ प्रस्तुत किया है वह सर्वथा असाधारण है। निराला जी ने 'पंचवटी प्रसंग' में अथवा 'कौन तम के पार', 'अधिवास' तथा 'पास हीरे-हीरे की खान' जैसे गीतों में अद्वैत दर्शन तथा नव्य वेदांत को शब्दबद्ध किया है, वह सर्वथा श्लाघ्य है। हमारी परंपरा में कवि को द्रष्टा माना गया है, चाहे सांप्रदायिक दर्शन हो अथवा जीवन दर्शन या आत्मदर्शन उसे सर्वत्र गहन मनन करना होता है।

इन ऋषि कल्प कवियों की सुदीर्घ परंपरा में तुलसी, कबीर, प्रसाद, निराला आदि को कविर्मनीषी मानने के पीछे यही मूलाधार है।

७) अंतर्विरोध एवं विसंगति बोध: गतिशील चिंतन कभी ऋजु रेखा में नहीं पलता है। उसमें वर्तुल आरोहावरोह होता रहता है। इसके प्रयोग से कविता की एकरसता खत्म हो जाती है। किसी भी कलाकृति में जितना महत्त्व साम्य और संगति का होता है, लगभग उतना ही महत्त्व 'कन्स्ट्रास्ट' और विसंगति का होता है। इसीलिए कविता में विरोध-वैषम्य मूलक विलोम पदों का बहुशः प्रयोग किया जाता है। केशव लिखते हैं-

'विषमय यह गोदावरी, अमृत को फल देत,'

गोस्वामी जी की उक्ति है-

'दंड जतिन्ह कहँ भेद जहँ, नर्तक नृत्य समाज,'

बिहारी का कथन है-

'तंत्री नाद कवित्त रस सरस राग रति रंग।

अनबूड़े बूड़े तिरे ने बूड़े सब अंग॥'

उन्होंने ज्यों-ज्यों बूड़े श्याम रंग त्यों-त्यों उज्ज्वल होई' में यही चमत्कार दिखाया है। भूषण के प्रसिद्ध छंद-

"ऊँचे घोर मंदर के अंदर रहनवारी,

ऊँचे घोर मंदर के अंदर रहाती है-

तीन बेर खाती थीं वे तीन बेर खाती हैं॥'

में विसंगति का यही वैशिष्ट्य है। प्रसाद जी ने-

"रस के निझर में धँसकर भी,

आनंद शिखर के प्रति बढ़ती॥"

जैसी उक्ति द्वारा विसंगतिबोध का अच्छा नमूना प्रस्तुत किया है। हिंदी कवियों में निराला, दिनकर और मुक्तिबोध में अंतर्विरोध अपेक्षाकृत अधिक है। तीनों पर तनाव तत्त्व हावी है। निराला अध्यात्म, व्यंग्य, विद्रोह, विक्षोभ, वेदना, सौंदर्यबोध, रहस्य, दर्शन आदि के बीच व्यावर्तन करते हैं। वे 'सरोज स्मृति' जैसी शोकगीति में हास्य का पुट डाल देते हैं-

"ये जो जमुना के से कछार, पद फटे बिवाई के उधार,

खाए के मुँह,

चमराँधे जूते को सकेल...॥

दिनकर जी संस्कृतिबोध, विद्रोह, प्रणय, सौंदर्य आदि के बीच ऊभ-चूभ करते दिखाई देते हैं। 'रसवंती' में प्रखर रोमानियत को मुखर करने के बाद वे क्रांति का आवाहन करते हैं, फिर उर्वशी के अंक में लोट जाते हैं। अंततः उनकी इन्कलाबी आवाज 'हारे को हरिनाम' में बदल जाती है। यही स्थिति मुक्तिबोध की है। एक ओर विद्रोह की भावाकुलता, दूसरी ओर तिलिस्मी भयावहता। यह विपथन नहीं हैं, गत्वर काव्य का एक सहज लक्षण है। कहीं-कहीं ये उतार-चढ़ाव अवसरवादिता अथवा फैशन के आग्रह से प्रकट हुए हैं। जैसे पंत जी के काव्य के विभिन्न मोड़। उन्हें अंतर्विरोध के बजाय विकास के बढ़ते चरण कहना ज्यादा उपयुक्त होगा। यह विसंगतिबोध अथवा अंतर्विरोध कविता में आए समानुपात अथवा 'सेमेंट्री' का सूचक है, अतएव इसे काव्यसौंदर्य का हेतु कहा जा सकता है।

८) भावावेग : अच्छी कविता अपनी वेगवती धारा में श्रोता-पाठक को बहा ले जाती है। जब कवि आविष्ट हो जाता है तो उसकी ओजोदीप्त वाणी में एक विशेष प्रकार की त्वरा भर जाती है। वह द्रुत रचना कदापि अविचारित नहीं होती, बल्कि अनुभूतियों के विस्फोट के कारण उद्दाम वेग से बुद्धि के कगारों को ढहाती हुई पावस की प्रचंड

सरिता की तरह बह निकलती है। मानस रचना का हेतु स्पष्ट करते हुए गोस्वामी जी कहते हैं कि रामभक्ति स्वतः भावोद्रेकपूर्वक उनके हृदय के कूल-कगारों को ढहाती हुई-

“उमगि चली कविता सरिता सो।

राम विमल जस जल भरिता सो।”

इस आवेग के लिए आवश्यक है वर्ण्यविषय के साथ गहरा तादात्म्यबोध। कवि जब अपने रचना संसार को जीने लगता है तो प्रतिपाद्य में उसकी तदाकार परिणति हो जाती है। घनआनंद ने लिखा था-

“लोग हैं लागि कवित्त बनावत,

मोहिं तौं मोरे कवित्त बनावत।”

यही कवि कर्म की कसौटी है। भावावेग से जुड़ने के लिए आवश्यक है अनुभूति की ईमानदारी। भोगा हुआ यथार्थ ही सबल संवेदना का रूप धारण करता है। निराला अपने कवि की सार्थकता पर विचार करते हुए गत कर्मों को भस्म करके अपने सर्वस्व का अर्पण तथा अपनी पुत्री का तर्पण करते हैं यह आवेग का अनुपम उदाहरण है। ‘उर्वशी’ में दिनकर का यह आवेग कहीं और निखर उठा है। पुरुषवा का छटपटाता हुआ प्रचंड पौरुष उसकी अंतर्वेदना में प्रगल्भ है-

“यह शिला-सा वक्ष, ये चट्टान-सी मेरी भुजाएँ

सिंधु-सा उद्गम अपरंपार मेरा बल कहाँ हैं?”

‘परशुराम की प्रतीक्षा’ में जब वे गुहार लगाते हैं-

‘टेरो-टेरो चाणक्य चंद्रगुप्तों को’

तो कविता पूरी रफ्तार से दौड़ने लगती है। भावों की यह उमड़-धुमड़ बड़ी दुस्साध्य होती है। यह अबाध गति से चलती रहे, इसमें विचलन न आवे, और यह लक्ष्य तक पहुँच जाए, इसके लिए सिद्ध सारथी की आवश्यकता है। आवेग की प्रक्रिया में कविता पाठक को झकझोरती है और प्रकारांतर से आनंदित करती है। रत्नाकर के ‘गंगावतरण’ में यही आवेग परिलक्षित होता है। यह कभी-कभी गत्वर रूप धारण कर लेता है, जैसे साकेत के बारहवें सर्ग का एक प्रकरण। शत्रुघ्न को भरत रणसज्जा का आदेश देते हैं। शत्रुघ्न आविष्ट हैं। कवि लिखता है-

‘सिर पर नत शत्रुघ्न भरत आदेश धरे थे।

पर जो आज्ञा कह न सके आवेश धरे थे।’

रत्नाकर की गोपियाँ कृष्ण की पाती पढ़ने के लिए एकत्र हो गई हैं। कवि के शब्दों में-

‘उझकि-उझकि पद कंजनि के पंजनि पै,

पेखि-पेखि पाती छाती छोहनि सबै लगी।

हमको लिख्यो हे, कहाँ, हमको लिख्यो हैं कहाँ

हमको लिख्यो हैं कहाँ, कहनि सबै लगी।’

इन पंक्तियों में भावाकुलता है, वैसी ही मुद्राएँ और चेष्टाएँ हैं, इसलिए यह छंद गत्वर बिंब का अनूठा उदाहरण बन गया है। आवेग का पूरक और पर्याय है- प्रवाह। प्रवाह तब पैदा होता है जब गतिरोध नहीं होता है। साकेत के बारहवें सर्ग में रणसज्जा का दृश्य प्रवाह का उत्कृष्ट उदाहरण है। देव की एक नायिका “पूरन प्रीति हिये हिरकी धिरकी फिरकी सो फिरै खिरकीन सों” चिचित्र की गई है, जो गति प्रवाह का निराला नमूना है। निरालाकृत तुलसीदास में तुलसी का मन ऊर्ध्व संचरण करता जा रहा है-

‘छोड़ता रंग पर रंग, रंग पर जीवन’

जब उसे पूर्ण आत्मप्रबोध प्राप्त हो जाता है तो वह आह्वान करता है-

‘जागो-जागो आया प्रभात,

बीती वह बीती अंध रात...

बाँधो बाँधो किरणें चेतन।’

यहाँ जागो बीती और बाँधो शब्दों की जो पुनरुक्ति हुई है, वह मात्र वीप्सा का चमत्कार नहीं है। अच्छी कविता की पहली पहचान यह है कि वह प्रथम वाचन में पाठक को अपने प्रवाह में बहा ले जाती है। कामायनी के श्रद्धा, काम, लज्जा आदि रागों को, आँसू के छंदों को और प्रसाद के कुछ नाट्य गीतों को पढ़ते हुए हम यह महसूस करते हैं। इस प्रवाह पूर्ण आवेग का एक प्रशंसनीय प्रयोग किया है अज्ञेय ने असाध्यवीणा में। प्रियंवद अंतर्लीन होकर आत्मसंबोधन करता है-

‘अपने से गा, अपने को गा,

अपने खगकुल को मुखरित कर,

अपनी छाया में पले मृगों की चौकडियों में ताल बाँध,

तू गा, तू गा, तू गा...।

यहाँ काल, कर्म और सृजन प्रक्रिया एकाकार हो गई है।

९) नाटकीयता : अच्छी कविता केवल वाच्य ही

नहीं, बल्कि दृश्य भी होती है। कविता में आकस्मिकता के झटके देता है। अप्रत्याशित के घटित होने पर सहृदय आंदोलित हो उठता है। इससे कुतूहल की अनायास सृष्टि हो जाती है और कविता में रोचकता की वृद्धि होती है। नाटकीयता का पूरक तत्त्व है संवाद कौशल। यह प्रबंध काव्य का अनिवार्य गुण है। केशव की रामचंद्रिका में अंगद रावण का संवाद इस दृष्टि से बार बार उद्धरणीय है। मानस के कथनोपकथन सूर का उद्धव-गोपी संवाद, कामायनी के मनु, श्रद्धा, इड़ा काम आदि के वार्तालाप नाटकीयता से परिपूर्ण हैं। इनमें अपेक्षाकृत सर्वाधिक सफल हैं साकेत के संवाद। चित्रकूट सभा में राम, भरत, वशिष्ठ, कैकयी आदि के बीच जो बहस हुई है, उसमें संवाद कौशल अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गया है। वार्ता का आरंभ करते हुए राम मात्र इतना पूछते हैं—

‘हे भरतभद्र, अब कहो अभीप्सित अपना।’

इसके उत्तर में भर बारंबार इस अभीप्सित शब्द को दुहराते हैं—

‘हे आर्य, रहा क्या भरत— अभीप्सित अब भी ?

मिल गया अकंटक राज्य उसे जब, तब भी !

रह गया, अभीप्सित शेष तदपि क्या मेरा ?

तनु तड़प-तड़पकर तप्त तात ने त्यागा,

क्या रहा अभीप्सित और तथापि अभागा ?’

यह अभीप्सित शब्द भरत के आवेग का सूचक है जिसके कारण संवाद में नाटकीयता भर गई है। यह नाटकीयता काव्य नाटकों में विशेषतः व्यक्त हुई है। अंधा युग, उर्वशी, संशय की एक रात, एक कंठ विषपाई आदि इस दृष्टि से विचारणीय हैं। इसी संदर्भ में विचारणीय है— कवियों की वक्तृत्व क्षमता प्रबंध काव्यों में और साथ ही हिंदी की लंबी कविताओं में कहीं-कहीं दीर्घ संलाप रूप में प्रस्तुत किए गए हैं। मानस के ‘भरत-मिलाप’, निराला-कृत ‘पंचवटी प्रसंग’, प्रसाद-कृत ‘प्रलय की छाया’ और मुक्तिबोध की लंबी कविताओं में वक्तृत्वकला पूरे रूप में पकट हुई है। इसमें जिस अंतर्द्वंद्व की सृष्टि हुई है वह वस्तुविन्यास और पात्र परिकल्पना दोनों क्षेत्रों में सराहनीय है।

१०) चित्रण कला : कविता का एक बहुत बड़ा गुण

होता है सूक्ष्म पर्यवेक्षण और दृश्यबिंबों का बारीक बिंब विधान। चित्रण में सर्वाधिक योग होता है। चाक्षुष बिंबों का, चाहे रूप चित्रण हो अथवा दृश्य विधान। समर्थ कवि उसे विभिन्न कोणों से देखता है और यथावत इनका रूपायन करता है। जीवंत चित्रण का सुफल होता है अरूप का प्रत्यक्षीकरण अथवा अदृश्य का साक्षात्कार। कामायनी में आशा सर्ग के अंतर्गत उषा, संध्या, ज्योत्स्ना तथा हिमालय का जो सम्मूर्तन किया गया है वह चित्रणकला का नायाब नमूना है। साकेत में पंचवटी के वृक्षों को सींचती हुई सीता की ‘अंगिमा-भंगिमा’ को कवि ने शब्द चित्रों के माध्यम से रचित किया है—

‘अंचलपट कटि में खोंस कछोटा मारे—

तनु बौर केतकी कुसुम कली का गामा।

थी अंग सुरभि के संग तरंगित आभा।’

यहाँ गुप्तजी की रूपांकन कला तद्रूप हो उठी है। पंत जी की ‘नौका विहार’ कविता में एक समूचा बिंबलोक बस गया है। महादेवी जी के गीतों में यह चित्र विधान अपने चरम पर

‘मृदुल अंक धर दर्पण—सा सर,

आँज रही निशि दृग-इंदीवर।’

इसमें एक विराट बिंब की सूक्ष्मातिसूक्ष्म व्यंजना है। रात्रि का मानवीकरण करते हुए कवयित्री कहती है कि पारदर्शी सरोवर को दर्पण की तरह अपनी गोदी में लिए हुए यह रात्रि नायिका तमस रूपी अंजन से कमलनेत्रों को अंजन रंजित कर रही है अर्थात् अंधकार फैलता जा रहा है और कमल मुकुलित होते जा रहे हैं। समर्थ कवियों के अदृश्य और अव्यक्त रूपों को भी अपनी चित्रधर्मिता द्वारा रूपायित कर दिया है। ‘राम की शक्ति पूजा’ में जनक वाटिका के पूर्वरंग का स्मरण करते हुए निराला के राम मन के विभिन्न अनुभावों और संचारी भावों को जिस बारीकी से उद्घाटित करते हैं अथवा कवि जिन शब्दों में उनकी राग-चेतना को व्यंजित करता है वह वस्तुतः बड़ा विलक्षण है। ‘कामायनी’ में उषा की स्मृति को प्रसादजी ने अधरोष्ठ के बीच शनैः-शनैः विस्तारित होते हुए चित्रित किया है—

‘उषा की पहली लेखा कांत, माधुरी से भीगी भर मोद।

मदभरी जैसे उठे सलज्ज, भोर की तारक द्युति की गोद।’

यही कला गोस्वामी जी के सीता के सौंदर्यचित्रण में दिखाई देती है—

‘छवि गृह दीपशिखा जनु बरई।’

घनआनंद के एक छंद में सौंदर्य को बूंद-बूंद टपकते बल्कि लटकते और चूते हुए चित्रित किया गया है—

‘अंग-अंग तरंग उठे द्युति की, परिहैं मनोरूप अवैं धर च्वै।’

इसी प्रकार की एक कविता है शमशेर की— ‘एक पीली शाम’ जिसमें मरणासन्न पत्नी को जल से लटके हुए पते के रूप में चित्रित किया गया है। चित्रण कला के सहारे कवि विराट से विराट रूपाकारों का गठन करता है। ‘राम की शक्ति पूजा’ में निराला ने महाशक्ति की जो मौलिक कल्पना की है और उनके दिग्दिगंत व्यापी श्री विग्रह की जो रूप रचना की है अथवा प्रसाद जी ने कामायनी में नर्तित नटेश का जो चित्रण किया है वह आत्यंतिक कलापूर्ण है। इसी प्रकार का एक और बारीक बिंब अवलोकनीय है। प्रसाद जी ने—

‘अरुण यह मधुमय देश हमारा’

नामक गीत में प्रफुल्लप्राय कमल के गर्भकेसर पर प्रतिबिंबित होती हुई वृक्षों की डाली का बड़ा नयनाभिराम चित्रण किया है—

‘सरस ताम रस गर्भ विभा पर

नाच रही तरु शिखा मनोहर।’

चित्रण की यह विलक्षणता यहाँ स्थूल दृश्यों में उजागर हुई है, वहीं अरूप मनोभावों के रूपांकन में भी। माखनलाल चतुर्वेदी की ‘कैदी और कोकिला’ कविता इस संदर्भ में उद्धरणीय है। कवि कारागृह में बंद है। चारों ओर अँधेरी काली रात है, सहसा उसे कोकिल की कूक सुनाई देती है। उसका मनोलोक उद्वेलित हो उठता है। गोरी सरकार की काली करतूतें इस दृश्य के साथ तदाकार हो उठती हैं। चित्रण कला और मनोभावों के प्रतिबिंबन का यह एक विशिष्ट दृष्टांत है।

वर्णनकला : कविता में वर्णन और विवरण का भी महत्व होता है। चाहे नखशिख हो, चाहे घटनाक्रम। चाहे अष्टयाम हो, चाहे विभिन्न कार्यकलाप, सबके लिए वर्णन वैशिष्ट्य अपेक्षित होता है। हिंदी कविता में प्रकृति वर्णन से

भरा पड़ा है। विद्यापति पदावली और संदेश रासक से लेकर जायसी, सूर, सेनापति और रीतिकालीन कवियों के बारहमासा, षट्ऋतु वर्णन अथवा ऋतुचक्र वर्णनकला के नमूने देखे जा सकते हैं। नखशिख अथवा शिखनख में विभिन्न अंगों अथवा प्रसंगों का वर्णन पारंपरिक रूप से यत्र-तत्र प्रयोगपटुता के साथ प्रकट हुए हैं। इस क्षेत्र में जायसी कृत पद्मावती का सौंदर्य वर्णन एवं सूर का बाल गोपाल वर्णन सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। प्रकृति-वर्णन में सेनापति, पद्माकर, प्रसाद, पंत आदि का कोई सानी नहीं है। कामायनी में श्रद्धा का रूप वर्णन, अज्ञेय की सागरमुद्राओं का वर्णन, ‘राम की शक्तिपूजा’ में अमानिशा और हनुमान के उड्डयन का वर्णन, भवानी प्रसाद मिश्र के सतपुड़ा के घने वनों का वर्णन आदि विलक्षण ही कहे जायेंगे। वर्णनक्रम में कुछ कवियों ने मात्र नाम गणना कराई है, कुछ ने मात्र विभाव रूप में प्रकृति के रूढ़ दृश्यों की आवृत्ति की है किंतु अधिकांश श्रेष्ठ कवियों ने अपने वर्णन वैशिष्ट्य का प्रमाण प्रस्तुत किया है।

रूपक रचना: जिस कवि की मानसी कल्पना जितनी प्रशस्त होती है, वह उतने ही बड़े सांगोपांग रूपक की रचना करता है। अनेक कवियों ने तो स्वतंत्र रूप से समासोक्ति अथवा अन्योक्ति काव्य रचे हैं, जैसे पद्मावत, कामायनी, लोकायतन, उर्वशी आदि। छोटे-छोटे रूपक तो हर समर्थ कवि ने निर्मित किए हैं। कहीं रहस्यदर्शन के सहारे और कहीं सौंदर्यबोध के आधार पर। गुरुनानक देव ने समस्त अंतरिक्ष को विराट ब्रह्म की आरती उतारते हुए चित्रित किया है। समूची सृष्टि इस विराट देवार्चन की उपकरण है। सूर, देव आदि कवियों ने भी इस प्रकार के अप्रस्तुत विधान किए हैं। महाकवि देव ने—

‘श्याम रंग लेके समान्यो श्याम रंग में’

जैसी उक्ति के परिप्रेक्ष्य में आकाश-पाताल, समुद्र, अंधकार सब को समेट लिया है। एक छंद में उन्होंने विरहिणी के निःशेष होते हुए पंचतत्त्वों का रूपांकन किया है—

‘साँसन ही सो समीर गयो अरु

आँसुन ही सब नीर गयो ढरि।’

ऋतुओं का सांगोपांग रूपक अनेक कवियों को अभीष्ट रहा है। विद्यापति ने बालक बसंत के जन्मोत्सव का सांगरूपक

रचाया है। देव ने भी उसकी पुष्टि की है—

डारि मृदु पालना बिछौना नव पल्लव के'

यह छंद तो सर्वथा अनन्य है।

इस प्रकार के रम्य रूपकों की रचना में सिद्धहस्त हैं सूरदास। उनका एक-एक पद रूपकों से ओत-प्रोत है—

‘देखियत कालिंदी अतिकारी।’ ‘हमारे हरि हारिल की लकरी।’ ‘गोकुल सबै गोपाल उपासी।’ ‘मानी माई मन घन बन अंतरदामिनी।’ ‘नाच्यो बहुत गुपाल।’ ‘उधौ भली करी अब आए।’ चितवन ऐसे हू न रही।’ ‘मुख छवि, कहा कहौ बनाइ।’ ‘हरिमुख निरखत नैन गुलाने।’ ‘अद्भुत एक अनूपम बाग।’ ‘निस दिन, बरसत नैन हमारे।’ ‘लोचन भए पखेरू भाई।’ ‘माधव जी यह मेरी एक गाइ।’ ‘आयो घोष बड़ो व्यापारो।’ ‘मुरली तरु गुपालहिं भावति’ आदि।

इनमें एक से बढ़ाकर एक रूपक रसे-बसे हुए हैं। सांगरूपक की रचना में तो तुलसी का कोई मुकाबला ही नहीं। उनके सहस्राधिक उद्धरण दिए जा सकते हैं। इनमें मानस के रूपक सर्वाधिक विशिष्ट हैं। इसी प्रकार कबीर के कुछ पदों में जैसे ‘झीनी-झीनी बनी चदरिया’ या ‘संतो आई ज्ञान की आँधी’ आदि में उच्चकोटि की रूपक रचना है। जायसी ने पदमावत में कई स्थानों पर रूपकातिशयोक्ति का प्रयोग किया है। यथा

‘चढ़ा अषाढ़ गगन घन गाजा।’...

कामायनी में श्रद्धा और इड़ा की रूपच्छवियाँ रूपक कला से अनुप्रमाणित हैं। महादेवी जी को रूपक बहुत प्रिय है— ‘मैं नीर भरी दुःख की बदरी’ को श्रेष्ठ बानगी कहा जा सकता है। हिंदी कविता की यह रूपक रचना रीति कवियों में देखने योग्य है, वस्तुतः रूपक काव्योद्रेक का प्रमुख प्रयोजन रहा है।

१३) प्रतीकपटुता : कविता अपने भीतर अनेक प्रकार के आद्य बिंब और नए पुराने प्रतीक लेकर चलती है। प्रतिभावान कवि प्रतीकार्थ में निरंतर बढ़ोत्तरी करते जाते हैं। कबीर ‘जल में कुंभ’ और ‘काहे री नलिनी’ जैसे पदों में जिन प्रतीकों का प्रयोग करते हैं वे हिंदी की मौलिक भावनिधि हैं। प्रसाद जी ने ‘बिखरी अलकें ज्यों तर्क जाल’ गीत में इड़ा को जिस प्रकार प्रतीकित किया है वह स्वयं में अपूर्व है। इसी प्रकार महादेवी जी के इस गीत में— ‘सब

आँखों के आँसू उजले’ एक विशिष्ट कोटि का प्रतीक प्रयुक्त हुआ है। ‘अग्नि पथ के पार चंदन चाँदनी का देश’ नामक गीत में कवयित्री प्रतीकपटुता की पराकाष्ठा पर पहुँची हैं। नए कवियों में अज्ञेय ने ‘नदी के द्वीप’ का जो प्रतीक अंकित किया है, मुक्तिबोध ने ‘ब्रह्मराक्षस’ का जो प्रतीकार्थ निर्मित किया है और शमशेर ने अतियथार्थवादी ‘अब्स्ट्रेक्ट’ प्रतीकों की जो रूप रचना की है वह अविस्मरणीय रहेगी।

१४) शब्द संरचना: कविता अथ से इति तक मूलतः शब्द है। सर्वोत्तम क्रम में सर्वोत्तम शब्द। काव्यभाषा के लिए विशेष कोटि का शब्द सौष्ठव अपेक्षित होता है। ऐसा शब्द, जिसका दूसरा विकल्प न मिल सके। ‘राम की शक्ति पूजा’ में निराला ने जिस टकसाली भाषा की रचना की है, पंत ने जो कोमलकांत पदावली प्रयुक्त की है, तुलसी ने एक-एक शब्द के साथ जिस औचित्य का निर्वाह किया है, केशव ने जिस प्रकार शब्दों को अपने इंगित पर नचाया है और प्रसादजी ने शब्दों में जो माधुरी घोली है उसे कौन नजर अंदाज कर सकता है? श्रेष्ठ कवि शब्दों को प्राणाधिक प्यार करता है। वर्णविन्यास के क्रम में वह कहीं लघु पद गुम्फ का चमत्कार दिखाता है और कहीं न्यून पदत्व का; रसलीन का प्रसिद्ध दोहा है—

‘अमिय हलाहल मद भरे श्वेत श्याम रतनार।

जियत मरत झुकि-झुकि परत जिहि चितवत एक बार।।’

इसमें तीन-तीन पेय पदार्थ, उनके अलग-अलग वर्ण तथा पृथक प्रभाव पूरे बिंब विधान के साथ वर्णित हैं। एक-एक शब्द यहाँ संगुम्फित है। इसी प्रकार की विच्छिन्ति बिहारी के दोहों में दिखाई देती है। जैसे—

‘कहत नटत रीझत खिझत मिलत खिलत लजियात।

भरे भवन में करत हैं नैनन ही सब बात।।’

इसमें एक-एक शब्द अनुभव गर्भित और विभिन्न प्रसंगों से संदर्भित है। यही है गागर में सागर। खुसरो की मुकरियों में यह कला-कौतुक दूँस-दूँस कर भरा गया है। एक-एक पहेली के चार-चार समानांतर अर्थ निकलते हैं। यह कोरा वाग्विलास नहीं है, बल्कि वाक्स्फीति है।

कवि शब्दों का प्रयोग उनकी ध्वनि, उनकी गति, उनकी भावगंध और उनके वजन के अनुसार करता है। आनुप्रासिक

छटा का निर्वाह काव्यभाषा की चरम सिद्धि है। केशव 'पंचवटी' का वर्णन करते हुए 'वटी' के तुकांत में शब्दों की झड़ी लगा देते हैं—

'सब भांति फटी दुःख की दुपटी कपटी न रहै जहें एक घटी।'

पद्माकर तो अनुप्रासों के सम्राट हैं। नायिका के मनोद्वेग का एक दृश्य देखिए—

'तान लगे लटकी, रही न सुधि धूँघट की, घाट की न औघट की, बार की न घट की।'

इन छंदों में असाधारण वर्णमैत्री है। एक उदाहरण पुष्कर नामक किसी अल्पख्यात कवि का देखिए। इसमें गोवर्णन धारण का दृश्य है—

*'धरते धरिबो धरनीधर को,
धर को न हियों धरनीधर को।
कर ले जन काँकर को कर को,
करुनाकर को करुनाकर को।'*

यहाँ भाषा भावानुगामिनी हो गई है। हरिऔध के प्रियप्रवास में वर्णिक छंदों की सही छटा दिखाई देती है। राधा के इस रूप सौंदर्य वर्णन में प्रयुक्त शब्दावली का सौष्ठव स्मरणीय है—

रूपोधान प्रफुलप्राय कलिका राकेन्दु बिंबानना।

तन्वगी कलहासिनी सुरसिका क्रीडा कला पुत्तली।'

यह भाषा कहीं अपने नए मुहावरों से रिझाती है, जैसे धूमिल की कृति 'संसद से सड़क तक' में। कहीं नया तेवर दिखाती है, जैसे रघुवीर सहाय में। कहीं मन में मिठास भर देती है जैसे प्रसाद के इन छंदों में—

*'लाली बन सरस कपोलों में आँखों में अंजन-सी लगती।
कंचित अलकों-सी धुंधराली मन री मरोर बनकर जगती।'*

कहीं यह भाषा अपनी ध्वन्यात्मकता के कारण मन में अनुगूँजित होने लगता है। जैसे निराला के बादल राग में अथवा देव के इस छंद में—

'सहर-सहर सौँधों सीतल समीर डोले।

घहर-घहर घन घेरि कै छहरिया-।

फहर-फहर होत पीतम को पीत पट।

लहर-लहर होत प्यारी की लहरिया॥'

यहाँ कविता के नाद बिंब स्वयं झंकृत होने लगे हैं। यह ध्वन्यात्मकता कहीं महाप्राणत्व की व्यंजना करती है और

कहीं सुकुमारती की। भूषण का प्रसिद्ध छंद—

'इंद्र जिभि जंभ पर बाड़व सुअब पर,

अथवा हनुमान के उड्डयन का यह दृश्य-शत घूणीवर्त तरंग गंग उठते पहाड़, अथवा पंत की 'परिवर्तन' कविता का यह ओजो दीप्त रूपक—

'लक्ष अलक्षित चरण तुम्हारे चिह्न निरंतर...।

शत शत फेनोच्छ्वसित स्फीत फुत्कार भयंकर।' आदि।

ये प्रयोग मन को रस पेशल बना देते हैं। काव्यभाषा में जब संगीत की लहरियाँ उठती हैं तो अंतरंग तरंगित हो उठता है। प्रसाद के ये गीत—

'हे लाज भरे सौंदर्य बता दो मौन बन रहते हो क्यों।'

अथवा

तुमुल कोलाहल कलह में मैं हृदय की बात रे मन।

अपने भाषा वैशिष्ट्य के कारण हृदयस्पर्शी बन गए हैं। पदमार्दव भी कवि की अनन्य निधि है। द्विजदेव का यह छंद 'जावक के भार पग परत धरा पै मंद' पढ़कर कौन सिहर उठता ?

१५) व्यंग्य विद्रूप : कविता जहाँ अपने सौंदर्यबोध से प्रभावित करती है, वहीं विरूपण से भी। निराला की कविताएँ 'कुरुरमुत्ता', 'स्फटिक शिला', 'खजोहरा', 'नागार्जुन' की कविताएँ 'आओ रानी हम ढोएँगे पालकी।' केदारनाथ अग्रवाल की कविता - 'एक हथौड़ा वाला घर में और मिला'। तथा धूमिल और दुष्यंत की विभिन्न कटूक्तियाँ, व्यंग्योक्तियाँ मन को मोह लेने में समर्थ हैं।

१६) किस्सागोई : अच्छी कविता में वृत्त और वृत्तांत दोनों का समावेश होता है। कहीं लोककथा, कहीं दैनिक जीवन की घटना। सुभद्रा कुमारी चौहान की 'खूब लड़ी मर्दानी' कविता पढ़कर आज भी जन मन हिल्लोलित होता है। मैथिलीशरण गुप्त के प्रबंध काव्यों में यह वाचिकता अपने शिखर पर है। सियारामशरण गुप्त की कविता 'एक फूल की चाह', रघुवीर सहाय की कविता 'रामदास', भवानी प्रसाद मिश्र की कविता 'सन्नाटा' तो अपनी कथात्मकता के कारण ही लोकग्राह्य हुई है।

१७) सूक्ति विधान : एक अच्छी कविता अपने अंतरमन में सामाजिक संचेतना, इतिहासबोध, संस्कृतिबोध, व्यक्तिवेदना, रहस्यदर्शन, अंतर्द्वंद्व, आक्रोश, विद्रोह और

उदात्तबोध आदि सब को सामान्य रूप से अथवा किसी एक को विशेष रूप से लेकर चलती है और पदे-पदे जन जीवन के मूल्यों का सृजन करती हुई या नीति निर्वचन करती हुई सूक्तियों का संचरण करती जाती है। रहीम, तुलसी, वृंद, कबीर, गिरधर, घाघ, बिहारी, दीनदयाल गिरि आदि द्वारा दिए गए दृष्टांत हमारे जीवन के बीज वाक्य बन गए हैं। आधुनिक कवियों ने भी ऐसे 'स्लोगन' लिखे हैं जो युग-युग से हमारे कंठस्थ बने हुए हैं। यह सूक्ति विधान काव्य का अविभाज्य अंग है।

इस प्रकार कविता की कई कोटियाँ हैं। कई रूपाकृतियाँ हैं। उसे केवल षट्संप्रदायों अथवा वादों द्वारा नहीं समझा जा सकता। आवश्यकता है इन समस्त उपादानों को आत्मसात् करने की, वस्तुनिष्ठ विवेचन की, उसके आनुपातिक मूल्यांकन की। अतः यहीं कवि कर्म का स्थाई निकष सिद्ध होगा।

१८) लोकचेतना : कविता मात्र कल्पना लोक की या सातवें आसमान की चीज नहीं है। उसमें धरती की गंध होनी चाहिए। उसका मिजाज जब दैनिक जीवन और अपने प्रकृति परिवेश के साथ मिल जुलकर चलता है तो वह लोकग्राह्य होता है, अन्यथा केवल कुलीन तंत्र तक सिमट कर रह जाता है। हिंदी कविता में सर्वहारा का स्वर प्रधान रहा है, सामंतों का नहीं। संत काव्य इसीलिए फला-फूला है। भाक्ति आंदोलन इसी के सहारे फैला है। जन-कविता से हमारी यही अपेक्षा है। जब कविता उधार लिए हुए मुहावरों में ढल जाती है, जब आयातित मतवादों में फंस जाती है और जब सरकारी प्रचार या आत्म विज्ञापन का शिकार हो जाती है तो विकलांग हो जाती है। अच्छी कविता के लिए आवश्यक है- लोकजीवन से गहरा जुड़ाव। दिनकर ने लिखा था- 'आज यह राजवाटिका छोड़, चलो कवि वन फूलों की ओर। दरबारी कविता में पच्चीकारी तो निखरी है किंतु अंतर्वस्तु कमजोर हुई है। हमारे संत, सूफी और भक्त कवि, ग्रामीण व्यवस्था से संबद्ध रहे हैं। इस परंपरा का निर्वाह निराला, नागार्जुन, माखनलाल चतुर्वेदी, पंत व वंशीधर शुक्ल आदि ने बखूबी किया है। निराला ने 'देवी सरस्वती' नामक कविता में जो ग्राम्य बिंब उभारा है। पंत ने 'ग्राम्या' में लोक को जिस प्रकार सँवारा है वह अभिनंदनीय है। महानगर बोध से कविता का दम घुट रहा

है। यांत्रिकता के कारण वैचारिक प्रदूषण बढ़ता जाता है। बौद्धिक अतिरेक के कारण आज के कवि का व्यक्तिवादी मन मसीहाई आवाज में मैं, मैं कहता हुआ मिमिया रहा है, उससे कविता का चेहरा विकृत होता जा रहा है। आवश्यकता है आंचलिक कविता की।

१९) औदात्य बोध : अच्छी कविता अध्यातम-मुखी होती है। शब्द-शब्द से नाद ब्रह्म की अनुगूँज सुनाई देती है। इसके लिए अपेक्षित है स्वाध्याय, मनःक्षेप, न कुण्ठा और आत्मदर्प की फूत्कार। जहाँ पापबोध अधिक होता है वह कविता सनसनी पैदा करके भी असमय ही कालकवलित हो जाती है। तुलसी हिंदी समाज में पाँच सौ वर्षों से इसीलिए अक्षुण्ण है कि उन्होंने मंत्र कविता को जन-जन में उतार दिया। समसामयिक प्रसंगों पर किया गया चिंतन व्यक्ति पूजा का उपक्रम अल्पायु होता है। शाश्वत समस्याओं से टकराने वाला काव्य चिरस्थायी होता है। लोकमंगल उसका सबसे बड़ा उपजीव्य है। किसी कवि के युग-युगीन मूल्यांकन की सबसे बड़ी कसौटी यह है कि उसके पास कितना बड़ा विजन है। प्रसाद जी ने उपभोक्तावादी अपसंस्कृति के अनेक वर्षों पूर्व इसका पूर्वाभास करा दिया था। निराला ने बहुत पहले 'बैंक किसानों का खुलवाओं' की गुहार लगाई थी। देश और दुनिया का यह दर्द जो कवि जितना महसूस करता है वह उतना ही आगे बढ़ता है। युग कवि से अपेक्षित है कि वह मात्र विधवा विलाप न करे बल्कि वैकल्पिक समाधान प्रस्तुत करे। तुलसी ने मुगल साम्राज्य के विरुद्ध रामराज्य का यूटोपिया खड़ा करके न केवल सामूहिक धर्मांतरण को रोका था बल्कि आस्था का वह अर्घ्य अर्पित किया था जिसके सहारे विभिन्न विभीषिकाओं के बीच भी यह जाति आज जीवित है। इस समय विमानवीकरण का दौर चल रहा है। मानुषभाव क्षण-क्षण क्षीण होता जा रहा है। जायसी ने जैसा उद्घोष किया था- 'मानुष प्रेम भयो बैकुंठी।' उस स्फीत राम चेतना की पुनर्प्रतिष्ठा करनी होगी। कबीर ने विद्रोही बाना धारण करके अध्यात्मदर्शन की उच्च मनोभूमि में पहुँचकर अंत्यज समाज की आँखिन देखी को जिस प्रकार शास्त्र के समकक्ष स्थापित किया था, उसी प्रकार आज पुनः दलित चेतना को सस्वर करना है। जिन कविताओं में यह भाव संपदा विद्यमान

है, भले ही उसका रचना तंत्र शिथिल हो, पर वे श्लाघ्य कही जाएगी।

२०) शब्द और कर्म में सामंजस्य : कविता एक सारस्वत साधना है न कि कला-करतब। सहृदय तक वही शब्द संप्रेषित होता है जो कथनी के बजाय करनी में ढल जाता है। तुलसी समादृत हुए इसलिए कि उन्होंने अपने मिशन के लिए सीधे सर्वस्व त्याग किया। कबीर ने श्रमिक साधुता अपनाई। निराला ने जो सोचा उसे पहले स्वयं पर घटित किया। मात्र कलाकवि चिरजीवी नहीं हो सकता। कविता के युग-युग से पाँच प्रमुख प्रयोजन रहे हैं- १) जनरंजन २) युगप्रबोधन ३) ज्ञानसंवर्धन ४) चित्त का उदात्तीकरण ५) स्वातः सुख। ये सब मिलकर सत्यं शिवं सुन्दरम् की सर्जना करते हैं। हिंदी कविता पिछले हजार वर्षों से न्यूनाधिक मात्रा में इन्हीं तत्त्वों की प्रतिपूर्ति करती रही है। वह एक शास्त्र अथवा अनुशासन के रूप में

विकसित हुई है। आवश्यकता यह है कि कविता को नए मानव मूल्यों के अनुसार भावों और विधानों के साथ जोड़ा जाए, उसको जिया जाए और उसे अधिकाधिक जीवन के समीप लाया जाए। पिछली दो शताब्दियों से शास्त्र-निरूपण की परंपरा, यहाँ मंद हो गई है। इसलिए पाश्चात्य काव्यमूलक बरबस यहाँ घुस आए हैं। उनसे भारतीयता आक्रांत हो गई है। कविता में अखबारीपन और बाजारवृत्ति भर गई है। वह राजनीतिक प्रदूषण के कारण संप्रति बीमार-सी है। वैश्विक चेतना का समाहार करने के लिए आधुनिक जीवन मूल्यों को एक सीमा तक प्रवेश देना होगा किंतु साथ ही अपनी अस्मिता की रक्षा भी करनी होगी। हिंदी की जातीय संस्कृति की संरक्षा और संवर्द्धना के लिए यह आवश्यक है कि उसका अपना काव्यशास्त्र व्यवस्थित किया जाए। संभव है उपर्युक्त सूत्रों के सहारे एक नई साहित्यधर्मिता विकसित हो जाए।

संपर्क :

‘साहित्यिकी’, , डी-५४, निराला नगर,
लखनऊ-226020, मो. 09451123525

साहित्यिक आलोचना से अपेक्षाएँ

राकेश भारतीय

‘आलोचना’ सामान्य बोलचाल में एक नकारात्मक शब्द है। किसी व्यक्ति या वस्तु के दोष निर्धारण को ही सामान्य बोलचाल में ‘आलोचना’ या ‘आलोचना करना’ कहा जाता है। पर साहित्य में आलोचना अपने मूल अर्थ में नकारात्मक भाव नहीं रखती। साहित्य में आलोचना-कर्म बेहद महत्वपूर्ण और सकारात्मक कर्म है और किसी के बस का भी नहीं। बड़ा से बड़ा साहित्यकार भी आलोचना की विधा में कलम उठाये तो कोई जरूरी नहीं कि उसे सफलता ही मिले। कारण बड़ा स्पष्ट है। आलोचना की रचना जमीन से जुड़ी हुई है पर वहीं खत्म नहीं होती। एक सिद्ध और सफल रचनाकार भी जब आलोचना-कर्म के तहत कलम उठाता है तो उससे अलग किस्म की अपेक्षाएँ होती हैं। क्या है साहित्यिक आलोचना से अपेक्षाएँ?

आलोचना-कर्म के तहत कलम चलाने वाले से सबसे पहली अपेक्षा है कि उसे बृहत्तर समाज के कार्य-व्यापार का सम्यक ज्ञान हो। कूपमण्डूक की तरह बस अपनी ही पृष्ठभूमि की तमीज रखकर उसे ही सकल संसार का प्रतिरूपात्मक आईना समझ लेना आलोचना-कर्म के लिए सर्वथा अपर्याप्त है। पिछले दो सौ वर्षों में विज्ञान और प्रौद्योगिकी ने दिन-प्रतिदिन के जीवन में जहाँ एक तरफ अब तक अकल्पनीय रही सुविधाओं का समावेश संभव कर दिखाया है वहीं मानवजाति के अस्तित्व पर ही प्रश्नचिह्न लगा देने वाले खतरे भी सामने ला दिये हैं। इंसान का बाह्य जीवन ही नहीं उसकी आंतरिक मनोभूमि भी इन बदलावों की वजह से जिस तरह प्रभावित हुई है वह कुछ हद तक वर्तमान दौर में लिखे जा रहे साहित्य में भी प्रतिबिम्बित हो रहा है। आलोचक अगर इन बदलावों से खुद ही वाकिफ नहीं है तो इन बदलावों को प्रतिबिम्बित करने वाले साहित्य का लेखाजोखा क्या कर पायेगा? वर्तमान दौर की कई रचनाएँ विज्ञान और प्रौद्योगिकी की वजह से संभव हुए एक किसी विशिष्ट बदलाव को यथा कॉल सेंटर में रोजगार के युवक-युवतियों की मनःस्थिति पर पड़ रहे दुष्प्रभाव, आधुनिकतम संचार-माध्यमों के द्वारा संभव हुए फूहड़ कार्यक्रमों के दृश्य-श्रव्यात्मक सांस्कृतिक हमले इत्यादि को बड़ी सूक्ष्मता के साथ न सिर्फ पकड़ती हैं बल्कि उस बदलाव को उसके चित्रण के लिए अपेक्षित संवेदना के साथ पाठक तक पहुँचाने में कामयाब भी होती हैं। इन रचनाओं पर अपनी ‘आलोचनात्मक’ दृष्टि डालने चला आलोचक उस विशिष्ट बदलाव से ही अगर अनभिज्ञ होगा तो उसकी टिप्पणी में उसकी ‘आलोचना’ के बजाय उसकी ‘अनभिज्ञता’ झलक कर रह जायेगी।

विविधतापूर्ण और विस्तृत अध्ययन आलोचना कर्म के अभिलाषी के लिए पहला पड़ाव है। सतही ढंग से रचनाओं पर ‘नजर डाल लेना’ और फतवा जारी कर देना आलोचना-कर्म का मजाक उड़ाना है। विस्तृत अध्ययन आलोचक के लिए यह संभव करता है कि वह रचना-विशेष को रचना के पूरे परिदृश्य में खड़ा कर उसके गुण-दोष, सामर्थ्य-कमजोरी इत्यादि को तुलनात्मक रूप से दर्शा सके। बिना उस जमीन पर लिखी गयी या उस दौर में प्रकाशित हुई अन्य रचनाओं के आईने के, एकांगी रूप से किसी एक रचना की ‘चमक’ का प्रमाणपत्र जारी कर देना न सिर्फ हास्यास्पद है बल्कि आलोचना के नाम पर धोखाधड़ी भी। आलोचना-कर्म में प्रतिमान स्थापित करने वाले के लिए खुद अच्छा रचनाकार होना आवश्यक नहीं, हाँ रचना-कर्म की मूलभूत तमीज होना जरूर आवश्यक है। रामचंद्र

शुक्ल खुद अच्छे रचनाकार नहीं थे पर रचना-कर्म की बेमिसाल तमीज रखते थे। हाँ, हजारीप्रसाद द्विवेदी जरूर रचना-कर्म और आलोचना-कर्म, दोनों में अपनी विलक्षण प्रतिभा के प्रमाण छोड़ गए हैं। यहाँ एक बात और रेखांकित करना आवश्यक है। आलोचना-कर्म में भी झण्डे गाड़ने चला सिद्ध रचनाकार अगर अपनी रचनाओं या उनकी ही जमीन जैसी रचनाओं को साहित्यिक श्रेष्ठता का प्रथम और अंतिम प्रमाण मानने के दुराग्रह के वशीभूत होकर आलोचना करने लगेगा तो कभी सफल नहीं हो सकेगा। वह दुर्लभ और कष्टसाध्य तटस्थता उसे प्रयत्न करके अर्जित करनी ही होगी जो अपनी रचनाओं पर भी समान रूप से लागू होती है। आजकल काफी सारा आलोचना-कर्म एक 'खास-फ्रेम' में जबरदस्ती दूँस कर रखी गई 'रचनाओं' की एक खास अंदाज में 'प्रशस्ति' तक सीमित होकर अगर पाठक के लिए बिल्कुल ही बेमानी हो जा रहा है तो इसके पीछे 'आलोचक' बनने चले व्यक्ति के पास आलोचनात्मक तटस्थता के 'त' तक की तमीज न होना ही है।

दरअसल दृष्टि में सीमित होना, अध्ययन अपर्याप्त होना, पक्षपात से चालित होना इत्यादि साहित्यिक आलोचना में ताबूती कील ठोकने के समान हैं। हम प्याला-हम निवाला साथ के लिए तो बड़े अच्छे हैं पर आपके आलोचनात्मक अवदान को प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से प्रभावित कर किसी खास दिशा में साहित्येतर कारणों से मोड़ने के उत्प्रेरक का काम कर रहे हैं तो उनसे पिण्ड यथाशीघ्र छुड़ा लेना ही बेहतर होता है। दुर्भाग्य से, आज के हिंदी साहित्य में रचना के गुण-दोष गौण हो गए हैं और महत्त्वपूर्ण हो गया है कि 'आदरणीय आलोचक' को 'नतमस्तक रचनाकार' किस मुद्रा में किन 'पुष्पों' को अंजलि में भरे हुए कितनी बार 'प्रणाम' कर रहा है। आलोचक अगर रचना पर सम्यक और तटस्थ दृष्टि डालकर साहित्य में उसका मुकाम निष्पक्ष रूप से तय कर पाने का इरादा नहीं रखता है तो उसके 'आलोचक' कहलाने का कोई मतलब नहीं। भयावह रूप से एकाक्षी होकर 'इस रचनाकार को उठाना है' या 'उस रचनाकार को गिराना है' का एजेण्डा पहले ही तय कर 'आलोचना' करने चला व्यक्ति दरअसल अपनी विश्वसनीयता को ही गिराता है।

रचनाकार सृजन के दौरान अपनी रचना के साथ जाने वाली कोई पाठ्य-सहायक टिप्पणी तैयार करते हुए नहीं चलता। और न ही ऐसी टिप्पणी उससे अपेक्षित है। यह अनुसंधान आलोचक से अपेक्षित है कि रचना-विशेष का बीज-स्थल कहाँ है, कथ्य-विशेष से न्याय कर पाने में रचनाकार सफल हुआ है कि नहीं, कथ्य के सम्यक सृजनात्मक निर्वहन के लिए आवश्यक भाषा-शैली रचनाकार के पास दिखी कि नहीं इत्यादि इत्यादि। आलोचना-कर्म से अपेक्षा है कि वह रचना पर केंद्रित हो, रचनाकार के व्यक्तित्व पर नहीं। कोई रचनाकार पहले कितनी भी महत्त्वपूर्ण कृतियों का रचयिता रहा हो, साहित्य में उसकी प्रतिभा कितनी भी समादृत रही हो, उसकी नवीनतम रचना आलोचक के सामने आलोचनात्मक विश्लेषण के लिए प्रस्तुत सर्वथा नयी रचना है। रचनाकार की प्रतिभा और पूर्व अवदान से आतंकित होकर अगर आलोचक कलम चलायेगा तो वह साहित्यिक आलोचना के बजाय 'नयी बोटल में पुरानी प्रशंसा' ही पेश करने की हास्यास्पद हरकत करके रह जायेगा। रचनाकार का पूर्व अवदान या उसके व्यक्तित्व के कुछ पहलू या उसके जीवन की कुछ घटनाएँ हृद से हृद रचना की पृष्ठभूमि समझने में सहायक हो सकती हैं, विशेष रूप से उन रचनाओं में जहाँ ऐसे तत्त्व रचना के गुंथे हुए हों। एक उदाहरण निराला की प्रसिद्ध कविता 'सरोज-स्मृति' है। इस कविता की आलोचना के लिए निराला के जीवन के कुछ पहलू, कुछ घटनाएँ जानना जरूरी है। पर इस मामले में भी अगर आलोचक उन्हीं के आसपास भटककर रचना को एक साहित्यिक कृति से अपेक्षित तत्त्वों की कसौटी पर कसने का कर्तव्य भूल जायेगा तो वह 'सरोज स्मृति' की आलोचना के बजाय निराला की संक्षिप्त या आधी-अधूरी जीवनी पेश करके ही रह जायेगा।

साहित्यिक आलोचना, संसार की अन्य बातों की तरह ही, अपने समय की कुछ खामियों, कुछ पूर्वाग्रहों से बच पाने में अक्सर नाकाम रहती है। यहाँ, बाद में लेखा जोखा करते हुए, यह देखना होता है कि इनसे आलोचना नकारात्मक रूप से प्रभावित हुई है कि नहीं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के 'हिंदी साहित्य का इतिहास' के पूर्वार्ध में लेखकों की जाति

का उल्लेख विशेष रूप से किया गया है जो आज पढ़ने पर बेहद अटपटा लगता है। (वैसे जाति जैसे अनावश्यक खाँचे में रचनाकार को बाँध कर उसी पूर्वाग्रह से उसकी रचनाओं को 'नापने' वाले 'आलोचक' आज की तारीख में उपस्थित हैं।) आचार्य रामचंद्र शुक्ल को इस बात का श्रेय दिया जाना चाहिए कि उस काल की रीति के अनुसार परिचय में जाति का उल्लेख करने के बावजूद उन्होंने उन रचनाकारों के अवदान की चर्चा करते हुए अपने आकलन को इससे प्रभावित नहीं होने दिया। हाँ, कबीर के साहित्यिक अवदान पर चर्चा करते हुए अगर उन्होंने कबीर के विलक्षण अवदान को अपेक्षित रूप से रेखांकित न करने की गलती की है तो इसके पीछे उस संत कवि की खुरदुरी पृष्ठभूमि और खुरदुरी भाषा से शुक्ल जी की आलोचकीय दृष्टि का अनावश्यक रूप से प्रभावित हो जाना जरूर एक कारण रहा है। (उदाहरणार्थ शुक्ल जी का कथन “अनेक प्रकार के रूपकों और अन्योक्तियों द्वारा इन्होंने ज्ञान की बातें कही हैं जो नई न होने पर भी वाग्वैचित्र्य के कारण अपढ़ लोगों को चकित किया करती थीं” या “भाषा बहुत परिष्कृत और परिमार्जित न होने पर भी कबीर की उक्तियों में कहीं-कहीं विलक्षण प्रभाव और चमत्कार है”)

रचनाकारों का एक वर्ग यह मानता है कि आलोचक नाम के जीव की जरूरत ही क्या है, आलोचना-कर्म तो है ही सिर से खुरपेंची और नकारात्मक कर्म। विशेषकर हिंदी में जिस तरह से साहित्यिक आलोचना की जा रही है और जिस बड़ी संख्या में अनपढ़-कुपढ़ आलोचक उपस्थित हैं, रचनाकारों का ऐसा मत अनुचित या अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। पर साहित्यिक आलोचना का अपना एक मुकाम है जिसको नजरअंदाज नहीं किया जा सकता। किसी भाषा के साहित्य को वही लोग नहीं पढ़ते जिनकी वह मातृभाषा है। अब कोई कन्नड़ भाषी हिंदी साहित्य का विधिवत अध्ययन करने चलेगा तो सीधे रचनाओं को पढ़ कर राय बनाने से पहले अब तक के हिंदी साहित्य का एक सम्यक लेखा-जोखा ढूँढ़कर उससे गुजरना जरूर चाहेगा। यहाँ एक बात बहुत महत्वपूर्ण है। किसी भी भाषा के

साहित्य में आलोचना-कर्म अगर अपेक्षाओं के अनुरूप नहीं होगा, गैर-जिम्मेदार और एकाक्षी आलोचकों की तादाद ज्यादा होगी तो उस साहित्य के बारे में अन्य मातृभाषाओं वाले पाठकों की राय विपरीत हो जाने का खतरा उत्पन्न हो जायेगा। अपने पूर्वाग्रहों और खूँटाबद्ध दुराग्रहों के चलते अगर आलोचक एक समर्थ रचनाकार के अवदान को गलत तरीके से चित्रित करता है और किसी बेहद साधारण रचना को जबरदस्ती आसमान पर चढ़ाने की कोशिश करता है तो उसका यह अपराध अपने साहित्य के वर्तमान पाठकों के लिए भले नजरअंदाज करने लायक हो, बहुत बाद के या गैर मातृभाषा के पाठकों की राय को अक्षम्य रूप से प्रदूषित करने वाला सिद्ध होगा ही। अकादमिक क्षेत्र में आलोचना-कर्म पर केंद्रित पुस्तकों की अच्छी संख्या में उपस्थिति और देश-विदेश के छात्रों-पाठकों की उन पुस्तकों पर साहित्य का बीज तत्त्व खोजने के लिए निर्भरता के मद्देनजर इस बात की गंभीरता समझी जा सकती है।

विशेषकर हिंदी साहित्य के संदर्भ में यह कहना जरूरी लग रहा है कि पचास-साठ करोड़ लोगों की भाषा के साहित्य के आकलन को चंद अनपढ़-कुपढ़-एकाक्षी आलोचकों के पास गिरवी नहीं रखा जा सकता। आलोचना-कर्म एक बेहद श्रमसाध्य और गंभीर कर्म है जिसकी तैयारी करने में ही दशक भर का समय लग जाता है। साहित्य के युवा पीढ़ी के पाठकों और अध्येताओं को आगे आना होगा और अपने साहित्य के प्रति एक ऐतिहासिक महत्त्व का कर्तव्य समझ कर इस कर्म में प्रवृत्त होना पड़ेगा। यह भी समझना जरूरी है कि आलोचना मात्र अकादमिक महत्त्व वाला या पी.एच.डी. कर किसी महाविद्यालय या विश्वविद्यालय में साहित्य की तोतारटंत के लिए कीलित करवा देने वाला कर्म नहीं है। अपने वास्तविक अर्थ में आलोचना-कर्म अपने साहित्य को देश-विदेश के वर्तमान और भावी पाठकों-अध्येताओं के सामने सही और सम्यक रूप से प्रस्तुत करने वाला कर्म है और इसीलिए इससे अपेक्षाएँ बहुत होती हैं।

संपर्क : 590, डी.डी.ए फ्लैट्स, पाकेट-1, सेक्टर-22,
द्वारका, नई दिल्ली- 110077, मो. 9968334756

उनके अहाने वर्जित-फल के फलांश का समय-आख्यान और 'वे' डॉ. शशिभूषण द्विवेदी

कुछ अपनी रुचि के व्यक्तियों पर लिखने-पढ़ने का यह सिलसिला चार वर्ष पहले शुरू हुआ था। और यह सब एक खास योजना का अंग था; लेकिन जैसे-जैसे इस सिलसिले में लोगों से मिलना पढ़ना-गुनना और समझना होता गया, वैसे-वैसे कुछ नए क्षितिज खुलते चले गए और कई ऐसी महत्वपूर्ण बातें हाथ लगती गईं जिनका कहीं अता-पता भी नहीं था। इस तरह की कई बातें हुईं लेकिन सबसे महत्वपूर्ण बात थी हिंदी संसार और खासतौर से हिंदी आलोचना की वह दुनिया- जिसमें अजब-गजब के छेद होते चले गए हैं; जिसके तहत आलोचना में अपनी-अपनी राजनीति ज्यादा महत्वपूर्ण होती गई है और इसके कारण साहित्य का उदात्त-ईमानदार-प्रजातांत्रिक विश्लेषण कहीं न कहीं पिछड़ता जा रहा है। इससे साहित्य को हानि हुई है। लेकिन १९९० के बाद दुनिया भर में जो परिस्थितियाँ बनीं, खास तौर से दुनियाभर में साम्यवाद के पतन के बाद; उसमें यह तथ्य उभरकर आया कि प्रजातांत्रिकता का अपना एक मूल्य है और वह ज्यादा लोगों के लिए एक सर्वस्वीकार्य भाव है और रहेगा।

तो इसी सिलसिले में, इसी राजनीति के प्रक्षेपण-स्वरूप यह स्पष्ट हुआ कि हिंदी में इस अजीब स्थिति के कारण कुछ बहुत ही 'डिजबिंग' लोग एकदम अछूते रह गए हैं और उन पर या तो एकदम कुछ नहीं लिखा-पढ़ा गया या बहुत कम लिखा पढ़ा गया या बिल्कुल जिनका नोटिस ही नहीं लिया गया। हालांकि ये उन लोगों से ज्यादा महत्वपूर्ण लोग थे; जिनको अपने-अपने खानों में बांटकर ढोल की तरह खूब पीटा गया। मैंने इसमें से कुछ ऐसे लोगों को अपने पढ़ने-लिखने के लिए चुना जिनका काम मेरी नजर में काफी महत्वपूर्ण है। ये लोग कविता, कहानी, उपन्यास, आलोचना आदि सभी क्षेत्रों में हैं; ऐसा मुझे लगा। शायद यही वजह है कि अशोक वाजपेयी की बहुत सारी किताबें 'अलक्षित' रह गईं, नित्यानंद तिवारी जैसे मौलिक व्यक्ति की किताबों की समीक्षा तक उन पत्र-पत्रिकाओं में भी नहीं हुई जिन्हें 'मित्र-लोग' संपादित करते रहे, विनोद शाही की इस बात पर बिल्कुल कान नहीं दिया गया कि संस्कृत की मदद से हिंदी का एक निहायत देसी आलोचना शास्त्र विकसित किया जाना चाहिए ताकि इलियट, रेमंड विलियम्स, टेरी इगलटन समेत आई.ए. रिचर्ड्स और एफ.आर. लेविस तथा बेंजामिन पर हमारी सच्ची-झूठी निर्भरता कम हो और हम स्वतंत्र-ढंग से सोचने के काबिल हो सकें। चेले-चाटियों ने कुछ को उजाड़ा और कुछ को बसाया और कुछ की बातों को ध्रुव सत्य की तरह प्रचारित-व्याख्यायित किया। कई बार तो यह भी स्पष्ट दिखता है कि जिन लोगों को 'अपना' माना गया उनकी बात करने से भी बिदक गया; वरना 'मित्र लोगों' की पत्रिकाओं में नित्यानंद जी जैसा आदमी क्यों जगह नहीं पा सका? बनारस में बसे मार्क्सवादी मानसिकता के कवि, हालांकि अपनी सूझ के साथ-ज्ञानेन्द्रपति को क्यों 'किसी लायक' नहीं समझा गया और इलाहाबाद के राजेन्द्र कुमार की कविताओं पर क्यों बात नहीं हुई? क्यों रामकुमार वर्मा को छायावाद के चतुर्भुज से अलग कर दिया गया जबकि उनका 'एकलव्य' दलित-विमर्श और बदलते हुए वर्ग-चरित्र का अद्भुत आख्यान है; जिसे अगर दिनकर की 'रश्मिरथी' और अमृतलाल नागर के 'नाच्यौ बहुत गोपाल' के साथ मिलाकर आज के कई संदर्भों के साथ देखा जाय तो दलित-विमर्श के कई अनछुए पहलू और कोण सामने आएँगे। नित्यानंद जी कहते हैं, "नागर जी का यह उपन्यास

बहुत चुनौतीपूर्ण है। यह बिल्कुल अलग किस्म का आख्यान है।”

मैंने इस सिलसिले में कुछ किताबों, कुछ उपन्यासकारों, राजी सेठ जैसी महिला उपन्यासकारों-कहानीकारों समेत कुछ आलोचकों को भी अपनी टिप्पणियों का विषय बनाया है। इसी स्तंभ में मैं कुछ किताबों, व्यक्तियों पर टिप्पणी कर चुका हूँ। इस बार कुछ आलोचकों की रचनाओं, उनकी आलोचना और उनके मन-चित्त पर टिप्पणी करने की कोशिश कर रहा हूँ। सबसे पहले अशोक वाजपेयी जिनका बहुत कुछ ‘अलक्षित’ ही रह गया है। आगे उन लोगों की चर्चा होगी जो इन सभी तरह की कुंठित राजनीति के बावजूद महत्वपूर्ण हैं; इसलिए इस कड़ी में इस बार अशोक वाजपेयी-जिनकी कविताओं के मिजाज और गद्य की चाशनी के संक्षिप्त विवरण ही इस लेख में समा सकते हैं। माना जा सकता है कि शब्दों के संयुक्त परिवार में बहुलता की तड़प और अंग्रेजों से मोह का पूर्वी-आख्यान उनके लेखन का न्यूक्लियस या केन्द्रक है और अशोक वाजपेयी के बारे में इस वर्ष की सबसे ताजी खबर यह है कि सोलह जनवरी को छिहत्तर वर्ष के हो गए और थोड़ा पीछे जाकर उनके संदर्भों को टटोला जाय तो पिछले वर्ष उनकी दो किताबें ‘कविता के तीन दरवाजे’ (अज्ञेय, मुक्तिबोध और शमशेर के रचनाकर्म पर केन्द्रित) और ‘नक्षत्रहीन समय में’ (कविता संग्रह) आई और उन्हीं के शब्दों में “ये भी अलक्षित’ हो रहीं; और इसी वर्ष एक इरानी विद्वान ने अपनी अंतराष्ट्रीय स्तर की किताब में अशोक वाजपेयी को भी स्थान दिया।

तो क्या अशोक वाजपेयी पर लिखने के सूत्र इन स्त्रोतों से टटोले जा सकते हैं और यह प्रमाणित किया जा सकता है कि कवि-आलोचक-टिप्पणीकार-आयोजक-प्रशासक श्री वाजपेयी के लेखन-खाते में कुछ ऐसी भी उपलब्धियाँ हैं जो हिंदी में केवल उन्हीं के पास हैं और वे हिंदी के अकेले व्यक्ति हैं जिन्होंने कुछ ऐसे काम किए हैं जो ‘पहली बार’ होकर हिंदी के इतिहास में दाखिल हैं?

उन पर लिखने के पहले जो गृह-कार्य होगा उससे मेरे जैसे व्यक्ति का निकाला निष्कर्ष यह हो सकता है कि उनके लेखन के कई स्तर हैं; मसलन सोलह संग्रहों में

गवाह उनकी लगभग दो हजार कविताएँ, सात आलोचना पुस्तकें गायकों, नर्तकों, चित्रकारों, साहित्यकारों पर वर्षों जनसत्ता जैसे अखबार में लिखी उनकी बहु-विध टिप्पणियाँ, और उन पर लिखे करीब उनसठ लोगों की वे टिप्पणियाँ जो श्री वाजपेयी को समझने के कई ‘दरवाजे’ खोलती हैं और उन्हें हिंदी का ऐसा व्यक्ति साबित करती हैं जिसे ‘अलक्षित’ तो नहीं ही रहना चाहिए। शायद इसीलिए कबीर पर हजारी प्रसाद द्विवेदी के बाद सबसे महत्वपूर्ण काम करके प्रतिष्ठित इनाम पाने वाले विद्वान आलोचक डॉ. पुरुषोत्तम अग्रवाल कहते हैं, “नई पीढ़ी के विद्वानों का ध्यान अशोक जी की तरफ गया है,” और उन्हीं की पीढ़ी के नित्यानंद तिवारी मानते हैं, “अशोक के गद्य पर काम होना चाहिए”, तथा कवि राजेश जोशी स्वीकार करते हैं, “साठ के बाद की सोई हुई आलोचना को अशोक ने जगाया और वे उसमें हमेशा नया जोड़ते रहे हैं।” इसलिए जो लोग लोगों को ‘अलक्षित’ रख रहे हैं, या रखते रहे हैं उनका पाप-पुण्य उन्हीं के खाते में, “मियाँ की जूती मियाँ के सर’ वाले कहावती-अंदाज में!!

मेरा मानना है कि अशोक वाजपेयी जैसों को अलक्षित नहीं रहना चाहिए। ऐसा होने पर हमारे संस्कार बेहतर होंगे!! हिंदी में उदारता का माहौल बनेगा और कर्म की उदात्तता को प्रतिष्ठा मिलेगी। अशोक वाजपेयी ने हिंदी के कोष को तरह-तरह से भरा है; उसे कुछ नए शब्द दिए हैं, हजारों आयोजन कराए हैं, भारत-भवन के रूप में बड़ा काम किया है, देश दुनिया के बड़े-बड़े लेखकों कलाकारों को बटोरा है और उनसे हिंदी संसार को परिचित कराया है, अनेक देशों की सांस्कृतिक यात्राएँ की हैं, भोपाल से दिल्ली तक प्रशासन को संभाला है, हिंदी विश्वविद्यालय के संस्थापक-कुलपति रहे हैं और निरंतर अपनी साहित्यिक सक्रियता बनाए रखते हुए विपुल लेखन किया है जिसका मूल्य ‘समय’ को आंकना ही पड़ेगा। चूँकि वे नौ वर्ष की उम्र से कविता लिख रहे हैं और कविताएँ अच्छी-बुरी हर तरह की चर्चा में रही हैं, इसलिए उनकी कविताओं पर एक आलोचना-दृष्टि डालकर आगे बढ़ना ज्यादा तार्किक और स्वीकार्य होगा।

अशोक वाजपेयी की कविताओं का वितान कुछ उनके

प्रिय और चुनींदा शब्दों से बना है; लेकिन ये शब्द उनके यहाँ विशिष्ट होकर अपने तरह का, या अपने को जस्टीफाई करने का निजी संदर्भ गढ़ते हैं और इसीलिए उनकी कविताओं को एक सामूहिकता की ऐसी संस्कृति देते हैं जिसमें एक संस्कारी संयुक्त-परिवार का कभी न टूटने वाला ताना-बाना है, पूर्वजों की सांस्कारिक याद की प्रार्थनाएँ हैं, शब्दों की चिंता में निरंतर अबशेसन को हद तक लगी पांडुलिपियाँ या पुस्तकें हैं, जीवन और समय तथा उसके प्रकाश और अंधकार को टटोलती जिज्ञासाएँ हैं, इन सबको समझने के लिए खुलते-बंद होते दरवाजे हैं, जीवन समय का मटमैलापन है और हर जगह अपनी इयत्ता को चस्पा कर देने वाली वे पत्तियाँ हैं जिनमें हर पत्ती की अपनी संज्ञा और सर्वनाम हैं। इसी के साथ भारी उथल-पुथल वाली ऐतिहासिक बीसवीं शताब्दी है जिसे श्री वाजपेयी ने तुरहा, कुंजड़ा आदि ऐसे चरित्रों को कवि-औरेख से देखा है जहाँ कुछ भी 'अलक्षित' नहीं रह जाता। श्री वाजपेयी की शताब्दी यहाँ हाशिये के लोगों का विमर्श बनकर खड़ी है और नया विमर्शों का रास्ता सुझा रही है। उसी तरह कवि, कलाकार, नर्तक, नर्तकियाँ, पुस्तकें, गायक, चित्रकार हिंदी में पहली बार उनकी कलम की नोक पर चढ़कर कवि-आँख से देखे जाकर अमर हुए हैं और हिंदी संसार इन विमर्शों से धनी और धन्य दोनों हुआ है। इसीलिए अशोक वाजपेयी के लेखन में या खसतौर से कविताओं में, आने वाले इन शब्दों पर एक नजर डालना जरूरी है।

ये शब्द हैं: शब्द, पूर्वज, प्रार्थना, पत्ती, मटमैला/पन, शताब्दी, प्रकाश, अंधेरा, कविता, चाचा-काका, दीदीया-नाती-पोते-नाना-नानी आदि, जीवन, समय, दरवाजा, परिसर, विन्यास इत्यादि जो कहीं-कहीं कुछ शब्दों-वाक्यों के आनुषंगिक हैं और कहीं-कहीं यह आभास देते-दिलाते हैं कि कवि इनकी मदद से एक ऐसी 'बहुलता' का निर्माण चाहता है जो हमारे 'समय' के कई टूटते-मूल्याँ को जोड़ते हुए उस बहुवचनात्मक-संस्कृति को बचाए जिसमें 'शब्दों' को बचाने का उपक्रम हो और जिसमें 'पूर्वजों' से की गई 'प्रार्थनाएँ' बेकार न जाकर सबका साथ दें और पूर्वोपन (याद करें फॉरेस्टर का इस्ट इज इस्ट, वेस्ट इज वेस्ट) को बचाए जिसका इशारा उपमहाद्वीप की एक विदुषी

राजनीतिज्ञ स्वर्गीय बेनजीर भुट्टो ने भी अपनी आत्मकथा 'डॉटर ऑफ द इस्ट' में कर चुकी हैं। यह अनायास नहीं है कि किसी जमाने में 'बहुवचन' पत्रिका निकालने वाले अशोक वाजपेयी एशिया और सार्क देशों के लेखकों-कवियों के कई जमावड़े भोपाल और अन्यत्र करवा चुके हैं। तो क्या इन स्थितियों और साक्ष्यों के आधार पर यह कहा तो सकता है कि कि प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से वे पूर्वी सभ्यता का एक ऐसा कोलॉज अपनी कविताओं में रचते हैं जो शुद्ध भारतीयता या शुद्ध उप-महाद्वीप सभ्यता का विमर्श कहा जा सके? यह बात आगे साफ होगी!

अशोक वाजपेयी के शब्द करीब-करीब उनके हर संग्रह में बार-बार आकर ऐसा प्रतीत करते हैं कि वे इनके मुरीद हैं या ये शब्द इनका 'ऑब्सेशन' या ऐसी आलोचना रचते हैं, लेकिन गहरे जाने पर ऐसा लगता है कि ये शब्द स्वाभाविक रूप से कवि-स्वभाव का हिस्सा हैं और उसे ऐसा लगता है कि इन शब्दों से वह वे सारी बातें कह देगा तो वह कहना चाहता है। यानि ये शब्द अनिवार्य रूप से उसके लेखक-व्यक्तित्व के अंश हैं और बार-बार इन शब्दों के पास आकर रुकने, और उनसे कुछ हासिल कर लेने के बाद उसे लगता है कि इन शब्दों ने उसे इसलिए बचा रखा कि वह बाकी संसार को इन्हीं की आँखों से देखें-जाँचे-परखे। लेकिन उसकी चिंता का मूल वही पूर्वी अंतर्राष्ट्रीयता है जो कई अर्थों में, या विशिष्ट अर्थों में इसलिए यूनिक या एकदम अकेली है जो ए.एल.बॉथम जैसे इतिहासकार से 'द वंडर दैट वाज इंडिया' लिखवाती है या मैक्समूलर से वेदों पर लिखवाती है। भारतीय जीवन के काका-दीदीया-नाना-पूर्वज जो वृत्त अशोक वाजपेयी की कविताओं में बनाते हैं, वह एक 'बहुलता' या बहुवचनात्मकता का उपक्रम है जो हमारे टूटते संयुक्त परिवारों को एक रखना चाहता है। यह शुद्ध पूर्वी चिंतन है जहाँ सभ्यताओं की गंगा जमुनी-तहजीब है; न कि बहुकलंकित 'सभ्यताओं का संघर्ष' या 'गांधी जी के हिन्द स्वराज की शब्दावली में 'राक्षसी-सभ्यता' का शताब्दियों को डराने वाला तांडव और कई हॉच-पॉच स्थितियाँ पैदा करने वाली कुंठाएं। अशोक वाजपेयी ने अपनी कविताओं और गद्य में इन शब्दों से कई तरह के काम लिए हैं: कहीं वे

हमारे समय की मक्कारी की व्याख्या के शब्द हैं, तो कहीं 'जीवन' की शिनाख्त में लगे डॉक्टर हैं, कहीं-कहीं उनका वितान हाशिये के लोगों को छूता है, तो कहीं सभ्यता के 'क्रांटिक' की तरह व्यवहार करता हुआ एक ऐसी तारतम्यता या प्रोसेस का निर्माण करता है जो क्रांति के लिए आवश्यक होती है। इसकी तरफ इशारा करते हुए एक उड़िया लेखक ने उन पर टिप्पणी 'जगह' नामक पुस्तक में की है जिसमें उनसठ (५९) लोगों ने अशोक वाजपेयी के लेखक-व्यक्तित्व पर विभिन्न कोणों से विचार किया है।

ऊपर वर्णित सूचित शब्दों की उपादेयता और सार्थकता को समझने के लिए अशोक वाजपेयी की कुछ किताबों के नाम भी पर्याप्त हैं: 'कविता के तीन दरवाजे', 'कहीं कोई दरवाजा', 'खुल गया है द्वार एक', 'नक्षत्रहीन समय में', 'समय के पास समय' आदि। कहने की आवश्यकता नहीं कि दरवाजे द्वार, समय आदि अपनी-अपनी सार्थकता यहाँ तलाश रहे होंगे और समय को 'नक्षत्रहीन' कहकर कवि अपने समय की तरफ कुछ ऐसी चुनौतियाँ फेंक रहा होगा जो नई होंगी। इन किताबों में से कविता के तीन दरवाजे गद्य की किताब है जो मुक्तिबोध, अज्ञेय और शमशेर को समझने के लिए 'दरवाजे' का काम करते हैं; यानि इन तीन दरवाजों से घुसकर अपने समय को कविता और उससे जुड़ी आनुषंगिकताओं को समझा जा सकता है। 'कहीं कोई दरवाजा', 'नक्षत्रहीन समय में', और 'समय के पास समय' कविता संग्रह हैं जिनमें ऊपर वर्णित शब्दों से काम लेते हुए कुछ नया 'समय' खोजने की जुगत बिठाई गई है।

अशोक वाजपेयी के लेखन की एक और विशेषता उनकी 'प्लॉनिंग' भी है और उनका एक संग्रह एक बात कहकर उससे जुड़े तमाम विमर्शों का रास्ता साफ कर देता है। कविताओं में अक्सर यह काम हमारी बहुलता और 'मटमैले' होते जा रहे उस भाव पर है जिसकी परते साफ नहीं हैं, और जो चूँकि साफ नहीं है इसलिए किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँचाता। यानि हमारे समय-शताब्दी की बहुत सारी बातें एकदम सपाट नहीं हैं और इसलिए उसके निष्कर्ष भ्रामक हैं। कविताएँ, घुमा-फिराकर उस भारतीय ताने-बाने पर आ जाती हैं जिसमें संयुक्तता का भाव हमारी

विरासत और परंपरा से जुड़ा है और 'बहुलता' के नष्ट होते जाने से डरा हुआ है, हालांकि कहीं-कहीं जीजिविषा का वह प्रबल रूप भी है जो हमें नाउम्मीद नहीं होने देता; लेकिन अशोक जी को भरोसा सिर्फ शब्दों पर है और उनकी सारी जद्दोजहद उन्हीं को बचाने के लिए है। उनकी कविताओं को कई बार कुछ रीति-कालीन शब्दों की लचर चटपटी शब्दावली में व्याख्यायित करके उनके कवि-कर्म को 'रिड्यूस' या कमतर आंकने की शकुनी कोशिशें हुई हैं लेकिन मेरा मानना है कि हर लेखक/कवि जो हमें दे रहा है उसमें से जो सार्थक और समाज-साहित्य के लिए 'फंक्शनल' यानि काम का है उसी आधार पर उसका अंकन होना चाहिए। मुश्किल यह रही है कि आलोचक रचनाकारों से भारी उम्मीदें लगाए रखते हैं, या लगाए रहे हैं और रचनाकार आलोचक से उसके अलावा किसी और का नाम 'क्यों' की कुंठा में रहे हैं, इसलिए हिंदी की आलोचना और रचना के विश्लेषण और समय की कोई आदर्श स्थिति या 'आइडीयल सिचुएशन' नहीं बन पाई है, और न हिंदी-आलोचना ने कोई अपना शास्त्र विकसित किया है, जिसकी तरफ हमारे समय के एक बड़े विद्वान-विश्लेषक प्रो. विनोद शाही वास्कर अपने लेखन में इशारा करते रहे हैं। अशोक वाजपेयी समेत कई लोगों को समझने के मेरे यही मापदंड हैं और इन्हीं हमेशा गतिमान-कसौटियों पर मैं चीजों को समझने की कोशिश में लगा हूँ।

दो

रही बात अशोक वाजपेयी के गद्य की तो उन्होंने कवियों-लेखकों पर टिप्पणियाँ की हैं, हर कला के पुरोधाओं पर कवि-दृष्टि से सोचा-लिखा है, चिट्ठियाँ लिखी हैं, लोगों ने उन पर लिखा है और सैकड़ों सेमीनारों-गोष्ठियों में भाषण दिया है और दुनियाभर के लेखकों-कवियों को एक मंच पर बैठाकर देश-दुनिया साहित्य पर बहुचर्चित टिप्पणियाँ की हैं और कराई हैं। इसलिए सात से दस पुस्तकों में फैला उनका गद्य कई तरह की समस्याएँ उठाता है, नए कोणों से उन पर विचार करता है, लोगों को विचार के लिए आमंत्रित करता है और विमर्श के नए 'दरवाजे' खोलता है जो अब तक अलक्षित रहे हैं। मतलब उनके गद्य पर ऊपर की कई नित्यानंद तिवारी, राजेश जोशी या

पुरुषोत्तम अग्रवाल की टिप्पणियाँ एकदम मौजू हैं और उनसे हमारे समय साहित्य को समझने के 'मटमैले' रास्ते साफ होकर हमें मुक्तिबोध, अज्ञेय, शमशेर, पंडित कुमार गंधर्व, निर्मल वर्मा, सैयद हैदर रजा आदि 'पूर्वजों' के पास ले जाते हैं, जहाँ पहुँचकर हमारे हाथ अपने आप 'प्रार्थना' के लिए उठ जाते हैं। पद्य और गद्य दोनों में कुछ ही शब्दों द्वारा बार-बार किया जाता हुआ यह कमाल हमारे व्याकरण के 'अन्वय' और पश्चिम के 'डेकन्सट्रक्शन' के लिए ऐसा रास्ता साफ करता है कि हम दाँते के कई तरह के 'दरवाजों' में प्रवेश करके अपनी उस 'बहुलता' को पा जाते हैं जिसके लिए कभी इकबाल ने कहा था—

कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी
सदियों रहा है दुश्मन दौरे ज़मा हमारा
सारे जहाँ से अच्छा...

अशोक वाजपेयी के गद्य में परिसर, विन्यस्त, चिंता, बेचैनी आदि शब्द का एक नया कोलॉज बनाते हैं और शब्दों के मामले में सिर्फ स्वर्गीय मलयज ही ऐसे हैं जो उनके आसपास ठहरते हैं। उनके पद्य और गद्य पर ऊपर की गई टिप्पणियों की वकालत के रूप में बिना कुछ उदाहरणों के बात नहीं बनेगी। इसलिए आइयें देखें:

२०१६ में आया उनका पन्द्रहवाँ कविता संग्रह 'नक्षत्रहीन समय में' की पहली कविता है 'अभी कोई पुकारता है'। इसे देखा जाय : "इस घिरते गाढ़े होते अंधेरे में/ क्या नहीं कोई रोशनी/ उसकी एक नहीं सी दरार-पुकारती है/ इस बेमौसम-हो रहे पतझर में/ क्या कहीं मुरझा रही कोई पत्ती/ की बची खुची हरीतिमा पुकारती है/ इस विकट नाउम्मीदों के सैलाब में/ क्या उम्मीद का कोई पत्ता तैरते हुए आता है।" (मैंने कुछ शब्दों के नीचे निशान लगा दिए हैं)

एक कविता है 'पत्ती भर'। इसमें 'पत्ती' के लिए आए असंख्य सर्वनाम कवि के लिए उसकी शाश्वत उपादेयता साबित करते हैं। साथ ही मैं इसमें 'पत्ती' होने की आशा भी है। देखें: "वह एक पत्ती भर थी।" आगे की पंक्तियाँ हैं: 'धूप उस पर गिरी जैसे कि अंधेरा भी/ बिना उसे देखे/ या जाने/ सारा संसार उसके होने की परवाह किए बिना चलता रह।'

कुछ और कविताओं के वाक्यांश देखें: 'मैंने एक गीत

बुना फूलों के स्वरो से/ पत्तियों के कंपन से/' आगे इसी कविता में "शब्द हैं/ वाक्य विन्यास हैं/ बिम्ब और उसके बीच का मौन भी।" एक कविता में :शब्द' को देखें 'जहाँ मैंने शब्द भर लिए थे/ यह तो गनीमत है/ कि मैं जल्दी में कुछ शब्द तो ले आया/ अन्यथा खाली हाथ आता/ खाली हाथ जाता"। यही तो हैं अशोक वाजपेयी जो शब्द लेकर आए हैं और वही दे रहे हैं। वे एक और कविता (जल्दी में) में "पांडुलिपियों के गट्टर' और 'पुरखों के साथ' शब्द का प्रयोग करते हैं। सदियों पहले कविता में वे 'अबूझ प्रार्थनाओं' और 'जर्जर पांडुलिपि' की चर्चा करते हैं। कहीं कोई दरवाजा शीर्षक किताब में देखें: "एक पत्ती हरी दस्तक है। वह सुगबुगाहट है/ कविता का आदि शब्द है। वह एक हरी भिरवा है"। यह अनायास नहीं है कि उनकी एक किताब का नाम है 'ए नेम फार इवरी लीफ' जिसे दिल्ली विश्वविद्यालय के एक प्राध्यापक ने अनूदित किया है। फिर अशोक वाजपेयी ने व्यक्तियों पर कमाल की कविताएँ लिखी हैं। उनके संग्रह 'कवि ने कहा' में एक कविता है 'मल्लिकार्जुन मंसूर'। इसकी पंक्तियाँ देखिए:

अपनी रफ्तार से चलते हुए
बहुत बाद में आते हैं
मल्लिकार्जुन मंसूर...
और समय से आगे निकल जाते हैं...
उलझनों भरे घावों-खरोचों से लथपथ
टुच्चे होते जाते समय से आगे...।।

शास्त्रीय गायक पंडित कुमार गंधर्व पर उनकी एक पूरी किताब है: बहुरी अकेला...। इसी से बहुत कुछ अंदाजा लग सकता है।

(तीन)

रही उनके गद्य की आलोचना की बात तो उन्होंने बहुत प्रामाणिक टिप्पणियाँ की हैं। कविता के तीन दरवाजे की टिप्पणियों को प्रमाण स्वरूप उद्धृत किया जा सकता है: 'साहित्य में विशेषतः कविता में, परस्पर विरोधी युग्मों के रूप सोचने की आदत पिछले कुछ दशकों में इस कदर फैली और पोसी गई है कि यह बात अक्सर भुला दी जाती है कि किसी भी समय में लिखने वालों के बीच साहचर्य होता है। आधुनिकता हमारे यहाँ और संसार भर में अनेक

दृष्टियों, शैलियों और विचारों आदि का साहचर्य रही है। छायावाद में प्रसाद, निराला, पंत और महादेवी अपने अपेक्षाकृत न्यून साम्य और अधिकांश वैषम्य के बावजूद छायावादी हैं। अज्ञेय, मुक्तिबोध और शमशेर इसी तरह नयी कविता, आधुनिकता, रचना और आलोचना में अपनी समानताओं और विषमताओं, परस्पर कई विरोधों और अन्तर्विरोधों के बावजूद शामिल हैं। उनका साहचर्य कोई आलोचनात्मक या वैचारिक आरोपण नहीं, निपट सीधी सच्चाई है।” इस लंबे उद्धरण का तात्पर्य यह है कि श्री वाजपेयी अपने समय के कवियों को सामने की सच्चाइयों और स्थितियों से कितनी सफाई के साथ जोड़ते हैं। कई कवियों/लेखकों पर लिखने का उनका उद्देश्य यह रहा है कि इनके माध्यम से अपने समय की ‘बहुलता’ और परस्पर सम्बद्धता के रूबरू हुआ जाय। अपने तीन प्रिय कवियों पर वे लिखते हैं, “अज्ञेय में शब्द, बिंब और स्मृतियों का वैभव है। शमशेर में अद्भुत चित्रमयता है। मुक्तिबोध की कविता आधिक्य और अतिरेक की कविता है।”

अपने पत्रों, लेखों में वे कहीं-कहीं कुछ स्थितियों पर तल्ख जरूर हैं लेकिन चाहे मराठी के अरुण कोलरकर या दिलीप चित्रे जैसे कवि हों या कन्नड़ के यू आर अनंतमूर्ति या गुजराती के यशचंद्र और उड़िया के गोपीचंद मोहंती या गुरु नर्तक कालू चरण महापात्र; वे सबके प्रति निहायत आत्मीय हैं और उनके सर्वोत्तम को एक कवि-दृष्टि से देखकर उसे साहित्य का हिस्सा बनाने वाले एकमात्र हिंदी वाले हैं। इसलिए इस अंग्रेजी में भी साधिकार लिखते रहने वाले अपने समय के महत्त्वपूर्ण हस्ताक्षर को ‘अलक्षित’ रखना पाप ही माना जाएगा; चाहे उसके लिए शब्दावली जैसी भी प्रयुक्त हो। उन पर जमकर काम होना चाहिए। इस लेख की रूप रेखा निम्नांकित पुस्तकों के आधार पर बनी है: नक्षत्रहीन समय में, समय के पास समय, कहीं कोई दरवाजा, कवि ने कहा, कुछ रफू कुछ थिंगड़े (सभी कविता संग्रह), कविता के तीन दरवाजे, अपने दूसरे (पत्रों का संग्रह), पुनर्भव (जनसत्ता में लिखी टिप्पणियाँ), जगह (उन पर लिखे उनसठ लोगों के लेख) तथा ‘ऐ नेम फॉर इवरी लीफ’ (अंग्रेजी में राहुल सोनी द्वारा अनूदित) तथा विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में उनके द्वारा तथा उन पर लिखी टिप्पणियाँ।

चार

ऊपर की हुई बातों से ही यह निष्कर्ष निकल सकता है कि कला के क्षेत्र में कोई भी व्यक्ति ‘वर्जित फल’ नहीं होता और उसकी उपादेयता उसके द्वारा निर्मित शब्दों या शब्दों के उसके संदर्भगत प्रयोग और उसकी स्वीकार्यता से तय होगी; न कि एक को अछूत और दूसरे को सर्वर्ण मानकर। आलोचना अगर ‘लोचन’ का ही भाग है तो आँख के बारे में उसका पारखी होना पहली शर्त है। यह हो सकता है कि एक आँख या एक व्यक्ति की आँख किसी पर ठहरे और किसी पर न ठहरे; लेकिन एक का ढोलक बजता रहे और दूसरे का नाम तक अपनी ‘राजनीति’ की कुंठित समझ के कारण न लिया जाय, यह परिपाटी साहित्यिक-दृष्टि की उदारता, प्रजातांत्रिकता और उदात्तता सब के खिलाफ जाती है और पिछले पचास वर्षों में साहित्य के पारदर्शी आकलन का रास्ता इस प्रवृत्ति ने संकरा किया है। जाहिर है कभी-कभी यह अन्याय का पर्याय लगने लगता है और आदमी की ईमानदारी पर प्रश्नचिह्न लगाता है। हिंदी में बहुत सारे लेखक-कवि इसके शिकार रहे हैं। लेकिन इसी में कुछ ऐसे भी लोग रहे हैं जिन्होंने एक ही लाठी से सबको नहीं हांका है और अज्ञेय के साथ नागार्जुन को भी याद किया है, लेकिन कई बदजात किस्म के ‘घुड़ीबाज’ (कृष्णदत्त पालीवाल का शब्द) इतने परहेजी रहे हैं कि उनके लिए अज्ञेय या अशोक वाजपेयी या विश्वनाथ प्रसाद तिवारी या लीलाधर जगूड़ी जैसे लोग ध्यान के लायक नहीं रहे हैं; लेकिन समय हमेशा एक सा नहीं रहता और उसकी किताब में हमेशा नए अध्याय जुड़ते रहे हैं, और जुड़ रहे हैं।

आज की आलोचक पीढ़ी में (हालांकि कुछ लोग मानते हैं कि अब ‘आलोचक’ नहीं होंगे; खास खास विषयों अनुशासनों के विशेषज्ञ ही होंगे, इसलिए अगर होगी भी तो आलोचना ‘किसी खास विषय’ की होगी) भी यह प्रवृत्ति कुछ प्रक्षेपणों के रूप में काम कर रही है; यानि वे अशोक वाजपेयी या विजेन्द्र या रामस्वरूप चतुर्वेदी आदि की चर्चा करते भी हैं तो किसी ऐसे नकारात्मक बिंदु को पकड़ लेते हैं जिसे आधार बनाकर उन्हें कोसा जा सके। इस पीढ़ी के कुछ लोग अपनी आक्रामकता के प्रदर्शन को

नकारात्मक स्वीकृति के लिए कुछ पत्र-पत्रिकाएँ भी पा गए हैं। ऐसी पत्रिकाएँ उनकी आक्रामकता की तर्कहीनता का मंच बन गई हैं; क्योंकि ऐसी प्रवृत्ति से पत्रिकाओं की बिक्री बढ़ती है और फिर लेखकों की 'राजनीति' को चमकाने का अवसर भी। यह प्रवृत्ति फिर घातक ही साबित हो रही है। क्योंकि 'राजनीति' मात्र का मूल चरित्र ही हमेशा भ्रामक होता है और सामाजिक विज्ञानों में जो उसको 'गेम ऑफ द पॉसिबिल' यानि संभव का खेल कहा गया है वह अनायास नहीं है क्योंकि 'राजनीति' को चमकाने एवं बनाए रखने में नकारात्मक प्रवृत्तियों, झूठ, फरेब, गाली गलौज, तिकड़म आदि की भूमिका सकारात्मक हो जाती है। यह प्रवृत्ति लेखकीय भद्रता के बिल्कुल खिलाफ है। यह समझने की आवश्यकता है। रुचि या चुनाव या 'च्चायस' आपका अपना हो सकता है; लेकिन आपका चुनाव अन्याय करे, यह गंवारा नहीं होना चाहिए।

अब चूँकि समय अपने को कई तरह से 'डीन्कन्सट्रक्ट' कर रहा है; इसलिए अशोक वाजपेयी, विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, विनोद शाही, चंद्रकांत बांदिवडेकर, नित्यानंद तिवारी, जीवन सिंह, राजेन्द्र कुमार, लीलाधर जगूड़ी, लीलाधर मंडलोई, राजी सेठ, राजेश जोशी आदि पर आलोचना का 'लोचन' उदारता, प्रजातांत्रिकता, शांति आदि के साथ जाना चाहिए और इनकी उन विशेषताओं को रेखांकित करने में लगना चाहिए जिनसे हमारे समय-साहित्य को तो फायदा हो ही; आगे की सभ्यता के विकास की राह भी आसान हो और भविष्य को भी कुछ हासिल हो; क्योंकि कलाकार या कलमकार "वर्जित फल" नहीं है। 'फारबिडेन फ्रूट' वाला स्वर्ग अब कहीं नहीं है। लेकिन जिस सर्वनाम 'वे' का प्रयोग इस लेख में मैंने केन्द्रक की तरह किया है, वह हर जगह मौजूद है। यह कहीं उनका प्रतीक है जिन्होंने कुछ को नकारा और कुछ को स्वीकार किया। यह उनके लिए भी है जिन्हें 'अलक्षित' रखा गया और उनके लिए भी जो आज आक्रामक बनकर अपनी राजनीति के आज के अध्याय को स्वीकार्य बनाने में लगे हुए हैं और उसके लिए किसी भी सीमा तक जा सकते हैं, या जा रहे हैं। ये उन 'छलात्कारी' (विश्वनाथ प्रसाद तिवारी का शब्द) लोगों के लिए भी जो

अपनी कुंठित-रुचि की स्थापना के लिए पत्र-पत्रिकाओं में नए विमर्शों का दावा करते रहे और साहित्य का अहित करते रहे। कुछ विश्वविद्यालयों के हिंदी विभाग इस निकृष्टता की अगुआई के अड्डे बनकर अपना और शिक्षा जगत् का सत्यानाश करते कराते रहे; और आज देश के उन विश्वविद्यालयों (ये पंक्तियाँ लिखते समय कुछ और खुल गए होंगे) में लगभग अधिकतर हिंदी विभागों की तो शैक्षणिक महत्त्व-शोध-आलोचना-पढ़ाई लिखाई की स्थिति है उस पर सिर्फ प्रतीकों में बात हो सकती है। क्या वजह है कि आज देश के हिंदी विभागों में कोई शिवप्रसाद सिंह, विवेकी राय, महादेवी वर्मा, रामदरश मिश्र, अजीत कुमार, केदारनाथ सिंह, मन्मथ भंडारी, धर्मवीर भारती आदि जैसे शुद्ध रचनाकार खोजे नहीं मिलते और आलोचक ?? इनकी तो बात ही मत पूछिए!

तो ??

लंगड़े प्रश्नचिह्न वाले इस 'तो' से इस टिप्पणी को खत्म करने का मतलब ही यही है कि इस पर नए सिरे से बहस हो, 'लोचन' के चश्मे के नंबर बदले जाएं और 'अलक्षित' को भी लक्ष्य किया जाय; क्योंकि यह लक्ष्यहीन काम नहीं है और लक्षित करना एक बेहतर समय के लिए ही होगा क्योंकि यह अंग्रेजी मुहावरे 'चेंज फॉर बेटर' जैसा होगा, जिसमें विध्वंस की नहीं निर्माण की गुंजाइश होती है। आखिर लेखन निर्माण ही तो है, और फिराक के शब्दों में ईश्वर जैसा काम है। फिराक कहते हैं-

शबे-फुरकत बहुत घबड़ा रहा हूँ
सितारों में उलझता जा रहा हूँ
आदम के हाथों तो कभी उलझी थी
वो गुत्थी आज तक सुलझा रहा हूँ...
देखिए,

उम्मीद की जाय कि आगे बहुत कुछ सुलझेगा, क्योंकि ऐसे माहौल में भी बहुत कुछ सकारात्मक होता रहा है और सुलझता रहा है!! मैं कतई निराश नहीं और वैसे भी न अपने से निराश होना चाहिए; न दूसरों से!! यही आदर्श बौद्धिक स्थिति है! नहीं ?? अगर इन आशाओं का माध्यम अशोक वाजपेयी और उनके जैसे और लोग बन रहे हैं तो सोने में सुगंध की तरह ही इसे क्यों न देखा जाय।

संपर्क: 09775938214

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की आलोचना-दृष्टि

डॉ. व्यास मणि त्रिपाठी

एसोसिएट प्रोफेसर, अध्यक्ष, हिंदी विभाग

जवाहर लाल नेहरू राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय

पोर्टब्लेयर, अण्डमान

‘मनुष्य’ को ही साहित्य का लक्ष्य मानने वाले विलक्षण प्रतिभा और पाण्डित्य के धनी निबंधकार, उपन्यासकार, आलोचक, इतिहासकार, अन्वेषक, अनुसंधानकर्ता आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का संपूर्ण साहित्य मनुष्यता के जयघोष की गाथा है। परंपरा और आधुनिकता के आलोक में संस्कृति और सभ्यता की नई व्याख्या है। सांस्कृतिक संवेदना के विस्तार में मानवीय मूल्यों की पड़ताल है। ‘शास्त्र’ और ‘लोक’ में लोकग्राह्यता के प्रति आग्रह है। इतिहास, पुराण और उपनिषदों में निहित विचार, चिंतन और संदेशों तथा उपदेशों का मानवोचित विश्लेषण है। इसी परिप्रेक्ष्य में द्विवेदी जी की दृष्टि ‘सूरदास’ से होती हुई ‘कबीर’ पर जा टिकती है। कबीर उनके चिंतक के असली वाहक नजर आते हैं। यह बात अलग है कि वे ‘तुलसीदास’ पर भी पुस्तक लिखने की योजना बना रहे थे लेकिन महाकाल ने ऐसा नहीं होने दिया। कहने का अभिप्राय यह है कि द्विवेदी जी के चिंतन में ‘मनुष्य’ है और इसीलिए वे उन सभी तत्त्वों पर नवीन ढंग से विचार करते हैं जो मनुष्यता के हित में हैं। वे उस साधारण आदमी के ऐसे वकील की भूमिका में नजर आते हैं जो तर्क और गहन अध्ययन के बल पर हारी हुई बाजी को भी अपने पक्ष में करने की क्षमता रखता है इसके लिए उसे भले ही दिग्गजों (आचार्य) रामचंद्र शुक्ल आदि से टकराना ही क्यों न पड़े। ऐसा करने के लिए उनका यह चिंतन प्रेरक और मार्गदर्शक की भूमिका बनता है— ‘जो वाग्जाल मनुष्य को दुर्गति, हीनता और परमुखापेक्षिता से न बचा सके, जो उसकी आत्मा को तेजोदीप्त न बना सके, जो उसके हृदय को परदुःखकातर न बना सके, उसे साहित्य कहने में संकोच होता है।’ (मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है— शीर्षक लेख से) संभवतः यही वह पाथेय है जिसे लेकर वे साहित्य-समालोचना के पथ पर अग्रसर होते हैं और बड़ी निर्भयता के साथ अपनी बेबाक राय रखते हैं।

आचार्य द्विवेदी ने सर्जक और आलोचक के रूप में अपनी प्रतिभा का सर्वोत्तम हिंदी जगत को दिया है। जहाँ उनकी ख्याति कबीर के नये पाठ के लिए है तो वहीं ‘बाणभट्ट की आत्मकथा’, ‘चारुचंद्रलेख’, ‘पुनर्नवा’, ‘अनामदास का पोथा’ जैसे उपन्यासों के लेखक के रूप में भी उनकी प्रसिद्धि है। उनके आलोचक और उपन्यासकार रूप से कम महत्वपूर्ण उनका निबंधकार रूप भी नहीं है। अनुसंधान पत्र-लेखन आदि के क्षेत्र में भी उनका अविस्मरणीय योगदान है। साहित्येतिहास की दृष्टि से ‘हिंदी साहित्य की भूमिका’, ‘हिंदी साहित्य का आदिकाल’ तथा हिंदी साहित्य: उद्भव और विकास’ का अपना ही महत्व है। इन तीनों के

अतिरिक्त उनकी अन्य कृतियाँ जिनमें शोध और आलोचना का मणिकांचन संयोग है, वे हैं- 'सूर साहित्य', 'कबीर', 'सूरदास और उनका काव्य', 'हमारी साहित्यिक समस्याएँ', 'साहित्य का मर्म', 'कालिदास की लालित्य-योजना', 'आधुनिक साहित्य बोध', 'लालित्य तत्त्व मीमांसा' आदि। 'अशोक के फूल', 'विचार और वितर्क', 'विचार-विमर्श', 'विचार-प्रवाह', 'कुटज', 'आलोक-पर्व' आदि संग्रहों के कुछ निबंधों में भी उनकी आलोचकीय प्रतिभा की छाप दिखाई देती है। 'अशोक के फूल' के नैरन्तर्य में अविशुद्ध भारतीय संस्कृति की पैरवी उनकी तार्किक क्षमता का द्योतन करती है। द्विवेदी जी संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिंदी और बांग्ला के मर्मज्ञ विद्वान थे। उन्होंने अंग्रेजी के माध्यम से ग्रीक साहित्य का अध्ययन किया था। रवीन्द्रनाथ टैगोर का उन्हें सान्निध्य प्राप्त था। अगाध पांडित्य में सहजता का मणिकांचन संयोग उन्हें सामान्य मानव-भूमि पर प्रतिष्ठित करने की क्षमता प्रदान करता था। सिद्ध और नाथ साहित्य, शाक्त परंपरा, संत साहित्य, गुरुनानक आदि पर लिखते हुए भी कालिदास और कबीर के दोनों छोरों के बीच से गत्वरता का उनमें अद्भुत कौशल था। एक ओर संस्कृत की आभिजात्य परंपरा तो दूसरी ओर देशजता का ठाठ उनके ज्ञान-गंगा की उच्छल तरंगों का शोभाकारक था तो वहीं शास्त्र) और लोक के बीच समन्वय की पीठिका पर साधारणता में असधारणता का विधान उनके रचना-कर्म का काम्य था। इस तरह आचार्य द्विवेदी का जो एक अलग प्रभामंडल निर्मित हुआ उसमें 'कुटज' का व्यक्तित्व है, 'देवदारू' की सान्द्रता है, 'बाणभट्ट' का अगाध पांडित्य है, 'कबीर' की फक्कड़ाना मस्ती है, रैक्व की जनभावना है और कालिदास का ललित उल्लास है। इसी परिप्रेक्ष्य में उनका सर्जक तथा आलोचक रूप मनुष्य और मनुष्यता का पक्षधर बनकर उभरा है। यह अकारण नहीं है कि उन्हें मानव-जाति की दुर्दम-निर्मम धारा के हजारों वर्ष का वह रूप साफ दिखाई दिया जिसमें मनुष्य की जिजीविषा और संघर्ष शक्ति की जयगाथा है बल्कि वह उनकी रचना और आलोचना का ऐसा केन्द्रक है जिसके बिना उनके साहित्य की उस प्रभा की निर्मिति संभव ही नहीं थी तो आज अपनी आभा में अतुलनीय है।

आँख मूँदकर किसी सिद्धांत अथवा मतवाद की स्वीकार्यता द्विवेदी जी के यहाँ नहीं है। अनुभव और तर्क की कसौटी पर कसे बिना वे कोई निष्कर्ष देना उचित नहीं समझते। काव्य में लोकमंगल के आग्रही आचार्य रामचंद्र शुक्ल के समानांतर अथवा उनसे बड़ी रेखा खींचने की द्विवेदी जी की आकांक्षा का प्रतिफल शुक्ल जी से टकराहट है किंतु इसका यह आरंभ कदापि नहीं है कि द्विवेदी जी के मन में उनके प्रति समादर का भाव नहीं है। उनके महत्त्व की स्वीकृति नहीं है। 'पद्मावत' पर शुक्ल जी की विस्तृत समीक्षा पढ़कर द्विवेदी जी की स्तब्धता जगजाहिर है। यद्यपि द्विवेदी जी स्वयं एक अवतरण थे किंतु उन्होंने इस संदर्भ में शुक्ल जी को अवतारी पुरुष कहने में भी कोई संकोच नहीं किया था। दृष्टि की भिन्नता अलग बात है लेकिन किसी भी प्रतिभा की स्वीकृति विनम्रता का एक महत्त्वपूर्ण आयाम है। ऐसे में संस्कृति-गाथा के महान गायक से कोई भूल कैसे हो सकती है? आचार्य रामचंद्र शुक्ल की स्वतंत्र मेधा और अद्भुत बौद्धिक प्रचण्डता की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए आचार्य द्विवेदी ने 'हिंदी साहित्य की भूमिका' में जो लिखा है वह समादर भाव ही है- "भारतीय काव्यलोचनशास्त्र का इतना गंभीर और स्वतंत्र विचारक हिंदी में तो दूसरा हुआ ही नहीं, अन्यान्य भारतीय भाषाओं में हुआ है या नहीं, ठीक नहीं कह सकते। शायद नहीं हुआ। नया लेखक उनसे डरता है। पुराना घबराता है, पण्डित सिर हिलाता है। वे पुराने की गुलामी पसंद नहीं करते और नये की गुलामी तो उनके लिए एकदम असह्य है। शुक्ल जी इसी बात में बड़े हैं और इसी जगह उनकी कमजोरी है।" हिंदी साहित्य के क्रमबद्ध इतिहास-लेखक के रूप में भी शुक्ल जी के प्रदेय को उन्होंने बहुत आदर और महत्त्व के साथ स्मरण किया है- "हिंदी साहित्य का सचमुच ही क्रमबद्ध इतिहास पं. रामचंद्र शुक्ल ने 'हिंदी शब्द सागर की भूमिका' के रूप में सन् १९२९ ई. में प्रस्तुत किया। बाद में कुछ परिवर्द्धन के साथ पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ है। शुक्ल जी ने प्रथम बार हिंदी साहित्य के इतिहास को कविवृत्त संग्रह की पिटारी से बाहर निकाला। पहली बार उसमें श्वासोच्छ्वास का स्पंदन सुनायी पड़ा। पहली बार वह जीवंत मानव-विचार के गतिशील प्रवाह

के रूप में दिखाई पड़ा।” (हिंदी साहित्य का आदिकाल, तृ. सं., पृ. २) इतने के बाद द्विवेदी के प्रति डॉ. रामविलास शर्मा की कुछ और ही दृष्टि है- “शुक्ल जी के साथ उन्होंने जैसा व्यवहार किया, वैसा अन्य किसी के साथ नहीं किया। शुक्ल जी की सामग्री जितना ही दोनों हाथों बटोरकर अपनी पुस्तकों में स्थानान्तरित करते हैं- उतना ही शुक्ल जी के विरुद्ध नाम लेकर- कम नाम लिए बिना ज्यादा हल्ला मचाते हैं। कथावाचकों वाली वक्तृत्वकला उनकी अपनी है। ...शुक्ल जी की सामग्री पर पच्चीकारी परिवर्तन कर रहे हैं। अपनी वक्तृत्वकला से उन्होंने शिष्यों को इतना प्रभावित किया कि नामवर सिंह को ‘सूर साहित्य’ में शुक्ल जी का उल्लेख दिखाई ही नहीं दिया।” (लोकजागरण और हिंदी साहित्य, पृ. ५७) डॉ. शर्मा का यह आरोप कहीं नामवर-विरोध का परिणाम तो नहीं। खैर, यह अलग विचारणीय विषय है।

साहित्य के प्रति आचार्य द्विवेदी की दृष्टि या आलोचना-दृष्टि की भिन्नता के रूप में सामने आया। हिंदी साहित्य का काल-विभाजन और नामकरण तथा भक्ति के उदय को लेकर शुक्ल जी और द्विवेदी जी की मतभिन्नता जगजाहिर है। आचार्य शुक्ल की दृष्टि में जनता की चित्तवृत्तियों की परंपरा को परखते हुए साहित्य परंपरा के साथ उनका सामंजस्य दिखाना ‘साहित्य का इतिहास’ है जबकि द्विवेदी जी हिंदी साहित्य को भारतीय चिन्ता का स्वाभाविक विकास मानते हैं। शुक्ल जी ने भक्ति के उदय के पीछे देश पर मुसलमानों के आक्रमण को एक महत्वपूर्ण कारण माना जबकि द्विवेदी जी की राय इसके विपरीत है- “अगर इस्लाम नहीं आया तो भी इस साहित्य का बारह आना वैसा ही होता जैसा आज है।” वे यह भी लिखते हैं- “मुसलमानों के अत्याचार के कारण यदि भक्ति की भावधारा को उमड़ना था तो पहले उसे सिंध में और फिर उत्तर भारत में प्रकट होना चाहिए था, पर प्रकट हुई वह दक्षिण में।” कहना न होगा कि भक्ति आंदोलन के मूल्यांकन में द्विवेदी जी ने शुक्ल जी की अपेक्षा अधिक प्रगतिशीलता और आधुनिकता का परिचय दिया है। कबीर को लेकर भी आचार्य शुक्ल और द्विवेदी जी की दृष्टि में काफी मतान्तर है। शुक्ल जी ने तुलसी पर ज्यादा लिखा लेकिन कबीर

पर कम। इसके विपरीत द्विवेदी जी ने कबीर पर अधिक लिखा और तुलसी पर कम। इन दोनों आचार्यों ने भक्तिकाव्य की सामाजिक-सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के बारे में भी परस्पर विरोधी राय प्रकट की है। भक्तिकाव्य के विवेचन में शुक्ल जी का झुकाव बल्लभाचार्य की ओर है तो द्विवेदी जी महायान, नाथपंथ तथा तंत्रवाद की भूमिका की ओर झुके दिखाई देते हैं। आचार्य द्विवेदी के लिए भक्ति आंदोलन ‘विराट जन आंदोलन’ है जबकि शुक्ल जी के अनुसार सिद्धों-नाथों का निर्गुणिया साहित्य लोक विरोधी है। वस्तुतः आचार्य शुक्ल से द्विवेदी जी का मतभेद संस्कृति-समाज और साहित्य के प्रति संपूर्ण दृष्टि को लेकर है। उन्होंने साहित्य को राजनैतिक परिवर्तनों से न जोड़कर सांस्कृतिक प्रवाहों की निरंतरता और परिवर्तन के रूप में देखा। इसके पीछे उनका संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश और हिंदी साहित्य का विशद अध्यापन तथा ब्राह्मण, जैन, बौद्ध, सिद्ध, नाथ, संत, भक्त आदि की चिंतन परंपरा है। उन्होंने संस्कृति की भीतरी अन्तर्यात्रा में काव्य-रूढ़ियों, कवि-अभिप्रायों, काव्य-प्रसिद्धियों, लोक-कथाओं, लोक-मिथकों, लोकविश्वासों आदि का गहन अध्ययन-मनन किया तथा इस सिद्धांत में अपनी आस्था प्रकट की कि ‘यद्यपि सिद्ध लोक विरुद्ध नहीं करणीयं नहीं करणीयं’। यही कारण है कि उन्होंने शास्त्र की अपेक्षा लोक को अपने चिंतन का केन्द्र बनाया। इस बात पर अपनी मुहर लगाई कि शास्त्र कभी भी लोक से बड़ा नहीं हो सकता। इसके विपरीत आचार्य शुक्ल की दृष्टि में लोक उतना महत्वपूर्ण नहीं है। आचार्य द्विवेदी सिद्धों, नाथों, निर्गुणियों के लोक में घुसकर नया आलोक पाते हैं। कबीर की देशज आधुनिकता पर रीझते हैं लेकिन शुक्ल जी ऐसा नहीं कर पाते। दलित जातियों के संतों ने ‘शास्त्र’ की वर्जनशीलता को तोड़कर ‘लोक’ को जिस भाव-भूमि पर प्रतिष्ठित किया उससे एकाकार होकर द्विवेदी जी ने हिंदी आलोचना को जो गरिमा प्रदान की उसका शाश्वत महत्व है।

मध्यकाल के आकलन में द्विवेदी जी का आधुनिकता बोध द्रष्टव्य है। उनकी दृष्टि में आधुनिकता की तीन शर्तें हैं- एक इतिहासबोध, दूसरी इहलोक में कल्याण और तीसरी व्यक्ति-कल्याण की जगह सामूहिक कल्याण की

एषणा। उन्होंने अपनी आलोचना को विचारोत्तेजक और प्रामाणिक बनाने के लिए इतिहासबोध का समुचित और सार्थक उपयोग किया है। इसी का परिणाम है कि उन्हीं से हिंदी में ऐतिहासिक आलोचना प्रणाली का प्रारंभ देखने की कोशिश भी की गई है। कबीर का अवधूत नाथपंथी, सिद्धयोगी मानने के लिए वे जिस प्रकार गोरखनाथ के योग-मार्ग, नाथपंथी साधना, नाद-बिंदु के तात्पर्यों की खोज-बीन करते हैं उससे उनकी सूक्ष्म गवेषणावृत्ति का ज्ञान होता है। डॉ. इन्द्रनाथ मदान का मानना है— “आचार्य द्विवेदी ने भारतीय इतिहास का दोहन किया है, भारतीय इतिहास का मंथन किया है, रवीन्द्र साहित्य को आत्मसात् किया है, कालिदास-साहित्य का रसपान किया है, आदिकालीन तथा मध्यकालीन साहित्य का अनुशीलन किया है और डॉ. द्विवेदी ने पाश्चात्य साहित्य, ज्ञान-विज्ञान तथा भाषा विज्ञान का परिशीलन किया है, जिसके फलस्वरूप उनका दृष्टिकोण आचार्य शुक्ल की अपेक्षा अधिक व्यापक है। आचार्य शुक्ल की जीवन-दृष्टि के मूल में भी समाज-मंगल की भावना तथा समाज कल्याण की धारणा है, परंतु आचार्य द्विवेदी की समाज-मंगल संबंधी जीवन-दृष्टि रोमांटिक जीवन-बोध का कहीं गहरा प्रभाव पड़ा है।” (आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी-व्यक्तित्व और कृतित्व, सं.- व्यास मणि त्रिपाठी, पृ. ११५) द्विवेदी जी का दृष्टिकोण मानवतावादी है। उनके इस मानवतावाद में आधुनिकता की चुनौतियों की स्वीकृति है, सामाजिकता और वैयक्तिकता का सुखद समन्वय है। परंपरा और आधुनिकता दोनों की स्वीकृति है। उनके लिए परंपरा एक प्रवाह है— खड़ा हुआ, जमा हुआ पैर है और आधुनिकता उठता हुआ पैर। एक बिना दूसरे की कल्पना ही नहीं की जा सकती। उन्होंने परंपरा के उसी रूप को स्वीकारने के पक्ष में अपना समर्थन दिया जो कटते-छँटते, निखरते-सँवरते हमें प्राप्त होती है। उनकी दृष्टि में परंपरा और परंपरावाद में बहुत बड़ा अंतर है। परंपरावाद परंपरा का शव है। रूढ़िवाद है। इसीलिए उन्होंने परंपरा में आयी जड़ता को अस्वीकार किया। संभवतः यह दृष्टि उन्हें कबीर के पाठ से मिली हो। लोक और शास्त्र तथा परंपरा और आधुनिकता के द्वंद्व के भीतर से समतावादी दृष्टि का संधान आचार्य द्विवेदी के आलोचकीय विवेक का

महत्त्वपूर्ण आयाम है। परंपरा एवं यथास्थितिवादी साहित्य-मीमांसा के समानान्तर लोकोन्मुख ज्ञान-मीमांसा से अलंकृत उनकी दृष्टि-पथ में सभ्यता, संस्कृति, इतिहास, धर्म, शास्त्र, लोक और सामाजिक व्यवस्था का जो स्वरूप गोचर हुआ उस पर उनकी निर्भीक टिप्पणी हिंदी साहित्य की अमूल्य निधि है। पण्डितों की समझ का इकहरापन उन्हें कष्ट पहुँचाता रहा है और इसीलिए उन्होंने ‘हिंदी साहित्य की भूमिका’ के उपसंहार में लिखा— ‘आये दिन श्रद्धापरायण आलोचक यूरोपियन मतवादों को धकिया देने के लिए भारतीय-आचार्य-विशेष का मत उद्धृत करते हैं और आत्मगौरव के उल्लास से घोषित कर देते हैं कि ‘हमारे यहाँ’ यह बात इस रूप में मानी या कही गयी है। मानो भारतवर्ष का मत केवल वही एक आचार्य उपस्थापित कर सकता है, मानो भारतवर्ष के हजारों वर्ष के सुदीर्घ इतिहास में नाम लेने योग्य एक ही कोई आचार्य हुआ है, और दूसरे या तो हैं ही नहीं या हैं भी तो एक ही बात मान बैठे हैं। यह रास्ता गलत है। किसी भी मत के विषय में भारतीय मनीषा ने गुड़डलिका-प्रवाह की नीति का अनुसरण नहीं किया है। प्रत्येक बात में ऐसे बहुत से मत पाये जाते हैं जो परस्पर एक-दूसरे के विरुद्ध पड़ते हैं।” (पृ. १२९) इस संकीर्ण इकहरेपन के विरुद्ध संघर्ष आचार्य द्विवेदी की आलोचना-पद्धति का एक महत्त्वपूर्ण अंग है।

भारतीय चिंतन-परंपरा में अन्तर्विरोध और समन्वय दोनों समान साधने की व्यवस्था नहीं बल्कि कृत्रिम विरुद्धों में वास्तविक जातीय सामंजस्य की चेतना है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने तुलसी को लोकनायक के पद पर प्रतिष्ठित करते हुए उन्हें समन्वयकारी कहा था तो इसलिए कि उनमें विरुद्धों के प्रति सामंजस्य बिठाने की अद्भुत क्षमता थी— “भारतवर्ष का लोकनायक वही हो सकता है जो समन्वय कर सके। क्योंकि भारतीय समाज में नाना भाँति की परस्पर विरोधिनी संस्कृतियाँ, साधनाएँ, जातियाँ, आचार निष्ठाएँ और विचार पद्धतियाँ प्रचलित हैं। बुद्धदेव समन्वयकारी थे, गीता में समन्वयवादी चेष्टा है और तुलसीदास भी समन्वयकारी थे। उनका सारा काव्य समन्वय की विराट चेष्टा है। लोक और शास्त्र का समन्वय, गार्हस्थ्य और वैराग्य का समन्वय, भक्ति और ज्ञान का समन्वय,

निर्गुण और सगुण का समन्वय, पाण्डित्य और अपाण्डित्य का समन्वय, ब्राह्मण और चाण्डाल का समन्वय—‘रामचरितमानस’ शुरू से आखिर तक समन्वय का ही काव्य है।” समन्वय एक तरह का सामंजस्य है, मध्यम मार्ग है, समझौता है। द्विवेदी जी तुलसी की समन्वयकर्ता के रूप में प्रशंसा तो करते हैं लेकिन वे स्वयं समन्वयवादी हैं, ऐसा आरोप पूर्वाग्रह अथवा दुराग्रह पूर्ण होगा। क्योंकि वे जीवन और लोचना में संतुलन के पक्षधर रहे हैं। उन्होंने ‘समीक्षा में संतुलन का प्रश्न’ शीर्षक लेख लिखा है जिसका एक अंश यहाँ इसलिए प्रस्तुत है कि उनकी समीक्षा-दृष्टि का पता चल सके— “मेरा मत है कि संतुलित दृष्टि वह नहीं है तो अतिवादितों के बीच एक मध्यम मार्ग खोजती फिरती है, बल्कि वह है जो अतिवादियों की आवेग-तरल विचारधारा का शिकार नहीं हो जाती और किसी पक्ष के उस मूल सत्य को पकड़ सकती है जिस पर बहुत बल देने और अन्य पक्षों की उपेक्षा करने के कारण उक्त अतिवादी दृष्टि का प्रभाव बढ़ा है। संतुलित दृष्टि सत्यान्वेषी दृष्टि है। एक ओर जहाँ वह सत्य की समग्र मूर्ति को देखने का प्रयास करती है, वहीं दूसरी ओर वह सदा अपने को सुधारने और शुद्ध करने को प्रस्तुत रहती है। वही सभी प्रकार के दुराग्रह और पूर्वाग्रह से मुक्त रहने की और सब तरह के सही विचारों को ग्रहण करने की दृष्टि है।” (विचार और वितर्क, पृ. २८९) कहना न होगा कि द्विवेदी जी ने अपना जो मार्ग निश्चित किया उसमें सत्य की समग्र मूर्ति को देखने का प्रयास है जिसमें किसी प्रकार के समझौते की गुंजाइश नहीं है। उन्होंने अपनी इसी पक्षधरता के साथ कबीर की प्रशंसा की है। उन्होंने अपने ‘कबीर’ पुस्तक में कबीर के व्यक्तित्व-विश्लेषण पर पूरा एक अध्याय ही लिखा है। अन्यत्र भी उन्होंने कबीर के व्यक्तित्व की विशेषताओं को रेखांकित किया है— “नाना कारणों से कबीर का व्यक्तित्व बहुत ही आकर्षक हो गया है। वे नाना भाँति की परस्पर विरोधी परिस्थितियों के मिलन-बिंदु पर अवतीर्ण हुए थे— जहाँ एक ओर हिंदुत्व निकल जाता है और दूसरी ओर मुसलमान, जहाँ एक ओर ज्ञान निकल जाता है और दूसरी ओर अशिक्षा, जहाँ एक ओर योग-मार्ग निकल जाता है, दूसरी ओर भक्ति मार्ग, जहाँ एक

तरफ निर्गुण भावना निकल जाती है और दूसरी ओर सगुण-साधना। उसी प्रशस्त चौराहे पर वे खड़े थे। वे दोनों ओर देख सकते थे और परस्पर विरुद्ध दिशा में गये हुए मार्गों के दोष-गुण उन्हें स्पष्ट दिखाई दे जाते थे। यह कबीरदास का भगवद्दत्त सौभाग्य था।” (विचार और वितर्क, नवीन संस्करण, पृ. ७)

‘साहित्य-सहचर’ और ‘साहित्य का साथी’ आदि में उनकी व्यावहारिक और आस्वादन-सक्षम समीक्षा दृष्टि मिलती है। ‘साहित्य-सहचर’ में शास्त्रीय विवेचन के बावजूद सिद्धांत-निरूपण की प्रवृत्ति नहीं मिलती। वे सिद्धांत या शास्त्र की परंपरा को ढोने की अपेक्षा जीवन को महत्त्व देते रहे हैं। उन्होंने अपने निबंध ‘काव्य-शास्त्र’ में ‘नाट्य-शास्त्र’ से लेकर ‘काव्य-प्रकाश’ तक में प्रतिपादित सिद्धांतों की जो सामयिक व्याख्या की है वह बहुत प्रभावकारी नहीं है। ऐसा माना जाने लगा है कि द्विवेदी जी की भारतीय अथवा पाश्चात्य काव्य-शास्त्र में व्यावहारिक स्तर पर कोई रुचि नहीं थी। यह उनकी अध्यापकीय विवशता और सीमा है कि उन्होंने इन विषयों पर अपनी लेखनी चलायी अन्यथा उनकी दृष्टि संस्कृतिधर्मी है। इसीलिए उन्होंने किसी रचना का मूल्यांकन रसशास्त्र, मनोविज्ञान या किसी विशेष विचारधारा की दृष्टि से नहीं किया बल्कि भारतीय सांस्कृतिक परंपरा में उसके सौन्दर्य और प्रभाव का उद्घाटन किया। स्वतंत्र रूप से उन्होंने सूरदास और कबीरदास के काव्य को अपना आलोच्य-विषय बनाया। ‘सूर-साहित्य’ से ही उनके मौलिक चिंतन का प्रमाण मिलना शुरू हो गया था। उन्होंने यह सिद्ध किया है कि सूर वैष्णव आलंकारिकों के बंधन में नहीं फँसे। उनकी नियति और नीति सामान्यता की थी। यही कारण है कि वे भारतीय जीवन में इस तरह घुले-मिले हैं कि लगता ही नहीं कि उससे परे उनका कोई अलग व्यक्तित्व है। आचार्य द्विवेदी ने ‘सूर साहित्य’ में परकीया प्रेम की पुष्टि की है जो वैष्णवता की अपेक्षा लोक धर्म की प्रतिष्ठा का एक उपक्रम माना जा सकता है। ‘सूर-काव्य-प्रेरणा और स्रोत’ शीर्षक अपने एक निबंध में उन्होंने लिखा है— “असल में ‘सूरसागर’ शास्त्रीय वैष्णव भक्तिशास्त्र से प्रेरणा अवश्य लेता है, पर शास्त्रीय की अपेक्षा लोकधर्म के अधिक निकट है।” (ग्रंथावली,

४/१५२) यहाँ यह ध्यातव्य है कि सूरसागर की लीलाओं की मुख्य सामग्री लोकजीवन ही है। द्विवेदी जी सूरदास से होते हुए कबीर तक पहुँचे थे और वहाँ से प्रेमचंद की यात्रा की थी। उन्होंने प्रेमचंद को अपने समय का सर्वश्रेष्ठ साहित्यकार घोषित किया था और उनमें भी कबीर की फक्कड़ाना मस्ती के दर्शन किये थे। 'प्रेमचंद का महत्त्व' शीर्षक अपने एक लेख में उन्होंने यह जो अभिमत प्रकट किया है उसमें निहित मानवतावाद ही द्विवेदी जी की सर्जना और आलोचना का केन्द्रक है— "दुनिया की सारी जटिलताओं को समझ सकने के कारण ही वे निरीह थे, सरल थे। धार्मिक ढकोसलों को वे ढोंग समझते थे, पर मनुष्य को वे सबसे बड़ी वस्तु समझते थे। उन्होंने ईश्वर पर कभी विश्वास नहीं किया फिर भी इस युग के साहित्यिकों में मानव की सद्वृत्तियों में जैसा अडिग विश्वास प्रेमचंद का था वैसा शायद ही किसी और का हो। असल में यह नास्किता भी उनके दृढ़ विश्वास का कवच थी। वे बुद्धिवादी थे और मनुष्य की आनंदिनी वृत्ति पर पूरा विश्वास करते थे।" द्विवेदी जी छायावाद को महान काव्य मानते हैं तो इसलिए नहीं कि उसमें शैली की नवीनता है बल्कि इसलिए कि उसमें मानवतावादी दृष्टि है। उसमें एक विराट सांस्कृतिक चेतना है।

आचार्य द्विवेदी के यहाँ सर्जना और आलोचना के बीच विभाजन रेखा खींचना इसलिए सरल नहीं है कि "वे

साहित्य के बारे में बात करते हुए साहित्य की रचना करते हैं। उनके हाथों शास्त्र भी साहित्य बन जाता है और समीक्षा भी सर्जना।" (दूसरी परंपरा की खोज, पृ. सं. १०६) इसी में आगे डॉ. नामवर सिंह उनकी आलोचना पद्धति का उल्लेख करते हुए इस बात पर जोर देते हैं कि उनमें एक सर्जक अधिक है— "वस्तुतः द्विवेदी जी की आलोचना में व्याख्या की भूमिका प्रधान नहीं है, प्रधान भूमिका है उद्धरणों के चयन की। प्रसंग के अनुकूल वे ऐसे उद्धरण चुन कर लाते हैं कि किसी अतिरिक्त युक्ति की आवश्यकता रह नहीं जाती। इस कला के क्षेत्र में वे अप्रतिम आचार्य हैं। जाने किस संदर्भ का छंद उठाकर लाते हैं और ऐसे नये संदर्भ में रखते हैं कि संदेह के लिए कोई गुंजाइश नहीं रहती। इस प्रकार के नये-नये जीवन संदर्भों से कविता का अर्थ-विस्तार करते हैं। अब कोई इस बात के लिए उन्हें आलोचक मानने से इंकार करे तो अपनी बला से। आलोचना उनके लिए विश्लेषण का पर्याय नहीं है, परोपजीवी आलोचना के लिए हो तो हो। वे सर्जक हैं, कृती हैं।" (वहीं, पृ. १०८)

एक सर्जक आलोचक के रूप में द्विवेदी जी ने साहित्येतिहास के विवेचन अथवा साहित्य सिद्धांत के निरूपण में परंपरा, लालित्य और अलौकिकता को विशेष महत्त्व दिया है और उसमें भी उनकी मानवतावादी दृष्टि सदैव सक्रिय रही है।

संपर्क :

जे. जी-167, टाइप-4, जंगलीघाट, पोर्ट ब्लेयर
अण्डमान- 744103, मो. : 9434286189

नयी शती का कथालोचन : पुनर्मूल्यांकन की दिशाएँ (कतिपय विशेष आलेखों के संदर्भ में)

डॉ. वेदप्रकाश अमिताभ

वर्तमान समय में आलोचना-विधा के प्रति संशयभाव जब-तब व्यक्त हुआ है। डॉ. श्री प्रकाश शुक्ल ने पंकज चतुर्वेदी के एक आलेख के संदर्भ में लिखा है कि '...आलोचना अब 'समझ' से ज्यादा 'संबंध' और 'संवाद' से ज्यादा 'बयान' में बदल गयी है।'^१ महावीर अग्रवाल से बातचीत में डॉ. बच्चन सिंह की स्वीकारोक्ति थी- 'आलोचना का क्षेत्र बड़ा संकीर्ण नहीं तो थोड़ा संकीर्ण हुआ है।'^२ कुछ गिने-चुने कवियों-कृतियों को उछालना या गिराना या जानबूझकर नामोल्लेख तक नहीं करना- ये पिछले कुछ वर्षों में प्रकाशित आलोचनाओं की मुखर विसंगतियाँ हैं। इसके बावजूद आलोचना की भूमिका महत्वहीन नहीं हुई है। अधिकतर सर्जक इस सत्य को स्वीकारते हैं कि आलोचना से न केवल रचना का पाठ समझ में आता है बल्कि रचनाकार की समझ भी विकसित होती है। अनेक रचनाकार और समीक्षक आलोचना को वस्तुनिष्ठ और विश्वसनीय बनाने के लिए नए प्रतिमान, नए दृष्टिकोण की जरूरत को रेखांकित करते हैं। पंजाबी रचनाकार सुतिंदर सिंह 'नूर' ने पुनर्मूल्यांकन पर जोर देते हुए समीक्षा के चरित्र में परिवर्तन की बात की है- "...हम इन समस्याओं एवं स्थितियों के रूबरू होने पर पचास वर्षों के साहित्य का पुनर्अध्ययन भी कर सकें। आलोचना को मयार बना सकें। विश्वचेतना से संबंधित होने पर अपने टैक्स्ट एवं परंपरा की पहचान किस प्रकार करनी है, इस विषय में विस्तारपूर्वक संकेत कर सकें।"^३ यह माना जाता है कि आज नए सिद्धांत गढ़ने से बेहतर है रचना की नयी व्याख्या। जैसा कि डॉ. बच्चन सिंह मानते हैं- "आज की व्याख्याओं की प्रकृति बदल गयी है। उसे सहृदय या भावुक के साथ भाषाविद्, नृत्ववेत्ता, विभिन्न संस्कृतियों और उनके अन्तर्विरोधों का ज्ञाता, समाजशास्त्र, इतिहास, अर्थशास्त्र, दर्शन आदि का साँचा बनाना पड़ता है। जैसे मिशेल फुको, एडोर्नो, बेंजामिन सईद वगैरह।"^४

प्रसिद्ध आलोचक डॉ. रमेश कुंतल मेघ ने आज की आलोचना के घिस-पिटे प्रारूप से असंतोष जताते हुए लिखा है- 'ऐसी आलोचना भौतिक यथार्थता तथा ज्ञानविरोधी है... ऐसी आलोचना सत्ता और प्राधिकार को कतई खबरदार नहीं कर सकती। यह भाववादी एवं कलावादी हो जाया करती है। यह केवल साहित्यशास्त्र के नियमों में जकड़ी हुई एकायामी (वन डाइमेंशनल) और व्यक्तिवादी है।'^५ पता नहीं कौन सी कृतियाँ डॉ. मेघ के सामने रही हैं, जिनसे उन्हें हिंदी आलोचना का पूरा परिदृश्य भाववादी, कलावादी और व्यक्तिवादी लगा है। रामविलास शर्मा और उनके बाद के आलोचकों- डॉ. शिवकुमार मिश्र, डॉ. रामदरश मिश्र, स्वयं डॉ. मेघ, डॉ. विश्वंभर नाथ उपाध्याय, डॉ. विवेकी राय, मधुरेश, डॉ. गोपालराय, डॉ. हरदयाल आदि आलोचकों ने जो कुछ लिखा है, वह घिसा-पिटा और व्यक्तिवादी नहीं

है। मौजूदा आलोचना की प्रासंगिकता पर प्रश्नचिह्न लगाने के बाद डॉ. मेघ का प्रस्ताव है—

“...आलोचना को भाव-कल्पना-आनंद के त्रिपुर से प्रयाण करके विचार-चिंतन, समाज-विज्ञान-आधुनिकता के त्रिकोण का शक्ति-केन्द्रित बिंदु बनना होगा। तात्पर्य यह कि आलोचना को ‘आ-लो- (चिन्त) ना में कार्यांतरित (मेटामाफ़ोज) होना होगा।”^६

डॉ. मेघ, ‘आलोचना’ पद की जगह इक्कीसवीं शती के काव्य-विवेक हेतु ‘आलोचिंतना’ पद का प्रयोग करना चाहते हैं। इस नयी तरह की आलोचना की कुंजी है— ‘अंतर-ज्ञानानुशासनीय उपागम’। यह आलोचिंतना रचना का अतिक्रमण करते हुए संस्कृति की चतुर्दिक परिधि को अपना लक्ष्य बनाती है। मार्क्सवादी चिंतन से अनुशासित इस आलोचना का पहला कार्यवृत्त है— ‘ज्ञान की दुश्मनी और समाजिकता के नकार से अविराम संघर्ष’।^७ यह केवल समाजशास्त्रीय अध्ययन न होकर पूरे ‘सांस्कृतिक पैटर्न’ से संबद्ध होगी। मिथक, इतिहास-बोध, नृत्यशास्त्र, विभिन्न कलाएँ आदि मिलकर एक ऐसी पृष्ठभूमि निर्मित करेंगे, जिससे रचना के बहुत से आयाम खुल सकेंगे। स्वयं डॉ. मेघ इस पैटर्न पर समीक्षाएँ बहुत पहले से लिखते रहे हैं। लेकिन डॉ. मूलचंद गौतम जैसे समीक्षकों को यह आलोचिंतना आश्वस्त नहीं करती है। उन्हें डर है कि इस तरह की समीक्षा पढ़ते समय पाठक ऐसे ‘भ्रमसंजाल’ में फँस सकता है कि जिसे उसे ‘रचना’ विस्मृत हो सकती है।^८ लेकिन सर्वत्र ऐसा नहीं है। कम से कम जयशंकर प्रसाद कृत आकाशदीप का जो मूल्यांकन डॉ. मेघ ने किया है, वह ‘साहित्य के सौन्दर्यबोध शास्त्र’ सरीखी संघटना पर आधारित होते हुए कुछ नये नतीजों तक पहुँचाने में समर्थ है।

गत दिनों ‘आकाशदीप’ पर पुनर्विचार करने वाले दो आलेख ध्यान आकर्षित करते हैं। डॉ. पुष्पपाल सिंह की टिप्पणी ‘पुनर्परीक्षण का क्रम’ के अन्तर्गत छपी है। ‘वर्तमान साहित्य’ (अगस्त २००९) में छपी इस टिप्पणी का प्रस्थान बिंदु है कि यह प्रश्न उतना महत्वपूर्ण नहीं है कि हिंदी कहानी का भविष्य प्रसाद के पगचिह्नों पर न चलकर प्रेमचंद की डगर पर चला।^९ अपने ‘पुनर्परीक्षण’ में डॉ.

पुष्पपाल सिंह ने ‘आकाशदीप’ की प्रासंगिकता प्रेम में त्याग और बलिदान, एक विशेष कथारस से युक्त भाषा और कहानी कला के सभी गुणों की एक साथ उपस्थिति के फलस्वरूप मानी है। लेकिन इन विशेषताओं में शायद ही कोई ऐसी हो, जो पहली बार रेखांकित की गयी हो। संभवतः इसीलिए एक प्रबुद्ध पाठक डॉ. शिवजी श्रीवास्तव को पूरा आलेख ‘क्लासरूम लेक्चर’ ही लगता है।^{१०} लेकिन डॉ. रमेश कुंतल मेघ का पुनर्मूल्यांकन ‘आकाशदीप’ के प्राचल (पैराडाइम) पर साहित्य के सौन्दर्य बोध शास्त्र का संयोजित विवेचित-विश्लेषित करने में नया दृष्टिकोण लिए हुए है। डॉ. मेघ को प्रसाद इतिहासकार, नृत्यशास्त्री और सौन्दर्यबोध वेता की त्रिमूर्ति लगते हैं। उन्हें ‘आकाशदीप’ के पुनर्पाठ में इसकी संरचना की पाँच प्रमुखा पते मिलती हैं, जिनमें ‘इतिहास और भूगोल का यथार्थ, प्रेम और घृणा का मनोविज्ञान, चंपाद्वीप बसाने और आदिवासियों के उत्सव का नृत्यशास्त्र, सिंधुयात्रा और नौकाभ्रमण में मुद्राओं-भंगिमाओं की सेमिओलाजी प्रकृति और पात्र प्रकृतियों की सौन्दर्य लीलाएँ, द्विपर्ण विरोध (बाइनरी अपोजीशंस), प्रचंड अन्तर्द्वंद्व तथा बाह्यसंघर्ष से मिलकर सौन्दर्यात्मक बिम्ब की रचना करती हैं।^{११} कहानी के प्रारंभ में विद्रोहियों की विजय पर भी डॉ. मेघ की दृष्टि गयी है। इस कहानी का एक वैश्विक संदर्भ है और राष्ट्रीय विचारधारा के माने गये प्रसाद की नायिका पुरुष प्रेम के साथ देशप्रेम से भी उपराम हो जाती है। वह स्वदेश की सहानुभूति-सेवा को चुनती है।^{१२} ‘आकाशदीप’ के प्रतीकों और बिम्बों के तलस्पर्शी विवेचन से भी डॉ. मेघ का यह पुनर्मूल्यांकन गंभीर और नवीन बन पड़ा है।

कथा-साहित्य के ‘पुनरावलोकन’ का एक अच्छा प्रयास ‘रंगभूमि: अंध औद्योगीकरण के कुप्रभावों और जनविरोधी दुष्परिणामों को रेखांकित करते हैं। सूरदास जैसा अनपढ़ ग्रामीण उस समय इस सत्य को समझ गया कि ‘कारखाना खुलना ही हमारे ऊपर विपत का आना है।’ हमारे अर्थात् किसानों और मजदूरों के ऊपर। सूरदास की आशंका सही सिद्ध होती है। किसान मजूर बन जाते हैं, मजूर ताड़ी-शराब में डूब जाते हैं और पांडेपुर के लोग अपनी जमीन से विस्थापित हो जाते हैं। सूरदास एक सच्चे सत्याग्रही की

तरह औद्योगिक पूँजीवाद के विरुद्ध संघर्ष करता है। क्लार्क उसे गोली मार देता है। भगवान सिंह बताते हैं कि पूँजीवादी बर्बरता का ऐसा ही चित्रण ग्राबिएल गार्सिया मार्केज के उपन्यास 'हंड्रेड ईयर्स ऑफ सॉलीट्यूड' (१९६७) में किया गया है, जिसमें बनाना कंपनी का आगमन माकोन्दोवासियों को जीवन की अस्त-व्यस्त कर देता है। जब जनता विरोध करती है तो उसे गोलियों से भून दिया जाता है। भगवान सिंह का विचार है कि "...रंगभूमि के रचनाकाल में औद्योगिक पूँजीवाद तुतलाते हुए बच्चे जैसा है, लेकिन जवान होकर यह कैसी-कैसी अमानवीय स्थितियों को पैदा कर सकता है, इसकी बड़ी ही विश्वसनीय तस्वीर प्रेमचंद इस उपन्यास में पेश कर गए हैं। यह तस्वीर अति औद्योगिक यांत्रिक विकास के लिए, व्याकुल युग के लिए 'अलार्म घड़ी' की तरह है।"^{१४}

प्रेमचंद और उनकी कृतियों के मूल्यांकन और पुनर्मूल्यांकन की कोशिशें इक्कीसवीं शती की हिंदी आलोचना में पर्याप्त स्थान घेरती हैं। दलित चिंतक, साहित्यकार प्रेमचंद की 'कफन', 'ठाकुर का कुँआ', 'रंगभूमि' आदि कृतियों को दलित विरोधी ठहराते हैं। उन्हें तकलीफ है कि प्रेमचंद डॉ. अम्बेडकर की भाषा और वैचारिकता से अलग क्यों है? लेकिन कुछ समझदार समीक्षक प्रेमचंद के विज्ञान की व्यापकता और प्रासंगिकता की चर्चा बराबर करते हैं। 'कफन', 'पूँस की रात' और 'मंदिर' आदि कहानियों पर डॉ. धर्मवीर, रत्नकुमार सांभरिया आदि ने गंभीर आरोप लगाये हैं और प्रेमचंद की अज्ञानता और उनकी दलित विरोधी मानसिकता को रेखांकित किया है। कुछ संतुलित दृष्टि वाले समीक्षक प्रेमचंद के इस नये मूल्यांकन से सहमत नहीं हो पाते हैं। वे प्रेमचंद के दृष्टि का अपनी तरह से भाष्य करते हैं। 'घासवाली' संग्रह के 'संपादकीय' में राजीव रंजन गिरि का मानना है: 'दरअसल कफन के पैसे को खा-पीकर वे समाज के वर्चस्वादी समूहों द्वारा निर्धारित इहलौकिक और पारलौकिक दोनों सीमाओं का अतिक्रमण करते हैं। यह अतिक्रमण एक साथ पैसा देने वाले शोषक धनी-वर्ग, धर्म के ठेकेदार ब्राह्मण और ईश्वर की सत्ता को मार्मिक चुनौती है। ऐसा करके वे लोक-मत और शास्त्रमत दोनों की अवहेलना करते हैं।'^{१५}

इसी तरह अनिल सिन्हा, प्रेमचंद को दलित प्रतिरोध का पक्षधर मानते हैं। 'मंदिर' कहानी के साक्ष्य से उनका विचार है कि प्रेमचंद दलितों को समान अधिकार दिये जाने के जबर्दस्त पक्षधर थे।^{१६}

इक्कीसवीं शती में कई बड़े लेखकों की जन्म शताब्दियाँ मनायी गयीं और इनके प्रदेश के वस्तुनिष्ठ मूल्यांकन की कोशिश हुई। भगवतीचरण वर्मा, जैनेन्द्र, यशपाल, हजारी प्रसाद द्विवेदी आदि की कथा-कृतियों को वर्तमान समय और समाज के संदर्भ में परखते हुए कई अच्छी समीक्षाएँ, आलोचनात्मक कृतियाँ और कुछ पत्रिकाओं के विशेषांक देखने में आये हैं। जैनेन्द्र कुमार के नारी-विमर्श पर समीक्षकों का ध्यान विशेषतः गया है। उनके 'त्यागपत्र' को आलोचकों ने आज भी पठनीय पाया है। प्रयाग शुक्ल ने अपने आलेख 'त्यागपत्र की अनबुझी लौ' में स्पष्ट किया है कि मृणाल का 'सच' पुराना नहीं पड़ा है। उनकी दृष्टि में "...वह एक ऐसा चरित्र है जो समाज को एक खरी संवेदनशील दृष्टि से जाँच रहा है, उसकी किसी भी चूक पर उसकी मर्मभेदी निगाह है, इसलिए नहीं कि उसे न्याय के किसी तराजू का दंभ है, बल्कि इसलिए कि समाज में समरसता और प्रेम का आकांक्षी है यह चरित्र।"^{१७} अरुणेश नीरेन मानते हैं कि जैनेन्द्र कला को जीवन से जोड़कर नहीं देखते, लेकिन 'त्यागपत्र' में वे जीवन-निरपेक्ष नहीं हैं। श्री नीरेन के अनुसार- 'उनकी कला अपने भीतर भरी श्रद्धा की शक्ति से वास्तव को संस्कारित करती है, परास्त नहीं। यहाँ कला स्वप्न नहीं वास्तव के भीतर रमी हुई वास्तविकता है, जैसे शरीर के भीतर रमी हुई आत्मा।'^{१८} डॉ. गोपाल राय ने 'हिंदी उपन्यास का इतिहास' लिखा है। इसे बिना हिचक के इक्कीसवीं शती के कथालोचन की उपलब्धि माना जा सकता है। डॉ. राय ने 'त्यागपत्र' को नारी संबंधी परंपरागत संहिता पर प्रहार की दृष्टि से महत्वपूर्ण माना है। जैनेन्द्र के प्रहार का मार्ग यशपाल आदि के मार्ग से भिन्न है। डॉ. राय के शब्दों में- "मृणाल आत्मदमन का मार्ग अपनाती है। व्यवस्था के दंड को वह स्वीकार कर लेती है, पर उसे मुँह बिराती हुई, उसे कठघरे में खड़ा करती हुई, उसकी बची-खुची चेतना को ललकारती हुई।"^{१९} मृणाल की

तुलना 'सेवासदन' की सुमन से करते हुए डॉ. नित्यानंद तिवारी ने पाया है कि जहाँ सुमन का वेश्या बनना पाखंडी समाज के अन्तर्विरोधों का पर्दाफाश है, वहीं मृणाल वास्तविकता से अधिक जैनेन्द्र के विचार और चिंतन की सृष्टि है। दोनों उपन्यासों की भाषा पर उनकी सुचिंतित स्थापना है- 'प्रेमचंद की भाषा घटना से अर्थ पाती है जबकि जैनेन्द्र की भाषा घटना में निहित अर्थ का निषेध करती है।' (सृजनशीलता का संकट, पृ. ३४)

इधर यशपाल के पुनर्मूल्यांकन में कोई नयी दृष्टि नहीं दिखाई दी है। डॉ. राजीव लोचननाथ शुक्ल और डॉ. गोपालकृष्ण शर्मा की कृतियों में उनके चिंतन और सरोकारों की पहचान सलीके से हुई है। डॉ. गोपालकृष्ण शर्मा यशपाल को अकेला हिंदी लेखक मानते हैं, जिसने १९४२ के आंदोलन में कम्यूनिस्टों की भूमिका पर लगे लांछन का विरोध किया और इस आंदोलन में कांग्रेस की संदिग्ध भूमिका को रेखांकित किया है।^{१०}

'चित्रलेखा' (भगवती चरण वर्मा) पर लिखते हुए राजकिशोर ने 'चित्रलेखा, पाप और कर्म' (हंस, दिसम्बर २००९) शीर्षक आलेख में इस उपन्यास की लोकप्रियता और सफलता के कारणों की पहचान की है। आज उन्हें यह उपन्यास इसलिए प्रासंगिक लगता है कि 'इस उपन्यास में प्रेम तथा स्त्री-पुरुष संबंध के बारे में कुछ बुनियादी सत्यों को उजागर करने में लेखक को जबरदस्त सफलता मिली है।'^{११} चित्रलेखा एक साथ दो पुरुषों से प्रेम करती है। राजकिशोर एक अच्छे और उदार समाज में दो पुरुषों या दो स्त्रियों के साथ प्रेम की आजादी को न्याय और औचित्य दोनों दृष्टियों से सराहनीय मानते हैं। अनामिका के साक्ष्य से आश्वस्त हैं कि प्रेमसंबंध में एक-एक का विचार उजबक सामाजिक व्यवस्था है, भावना जगत का यथार्थ नहीं है।^{१२} वफादारी सामंती मूल्य है और बेवफाई निरर्थक विचार, यह घोषित करते हुए राजकिशोर एक तरह से प्रेम को स्वेच्छाचार का पर्याय बना देते हैं। 'प्रेम' शब्द घिस कर चिपटा तो पहले ही हो गया था, 'सहवास' का पर्याय भी बन गया था, अतः आज राजकिशोर जैसे समीक्षकों की वफादारी, एकांतिक समर्पण से रहित प्रेम की माँग चौंकाती नहीं है। लेकिन चित्रलेखा का अंत संभवतः

स्वेच्छाचार का समर्थन नहीं करता। बीजगुप्त-चित्रलेखा का अथाह संसार में साथ-साथ चल पड़ना उनके एकनिष्ठ समर्पण को अधिक व्यंजित करता है।

मधुरेश ने 'चित्रलेखा' का पुनर्पाठ करते हुए पाया है कि इस उपन्यास में कुमारगिरि और बीजगुप्त के माध्यम से दो प्रवृत्तियों का द्वंद्व मुखर है। कुमारगिरि का दर्पदलन और पराभव, साधना के नाम पर स्वाभाविक प्रवृत्तियों के हनन की अप्राकृतिक जीवन-पद्धति और मूल्यदृष्टि की पराजय है। यह पराजय तत्कालीन युवापीढ़ी की अकुंठ भावनाओं को बहुत स्वीकार्य लगी। युवा पीढ़ी के लिए बीजगुप्त के निष्कपट, निश्छल रूप में प्रेम की हार्दिक स्वकृति का अंतरंग दर्शन आश्वस्त करने वाला है। मधुरेश के अनुसार- 'चित्रलेखा के असाधारण और स्थायी प्रभाव का सबसे बड़ा कारण अपनी पीढ़ी की मानसिकता का समान प्रतिनिधित्व है। पुराने आदर्शों और दंभपूर्ण खोखले जीवन मूल्यों को प्रश्नांकित कर वह अपना जीवन अपने ढंग और इच्छा से जीने पर बल देता है।' (कथाक्रम, जुलाई-सितम्बर २०१४, पृ. १६) मधुरेश 'चित्रलेखा' को स्त्री-पुरुष के त्रिकोण पर केन्द्रित मनोवैज्ञानिक उपन्यासों का प्रतिनिधि उपन्यास मानते हैं जबकि अन्य आलोचक मनोवैज्ञानिक उपन्यास के संदर्भ में चित्रलेखा का उल्लेख नहीं करते हैं। मधुरेश के इस पुनर्पाठ का एक वैशिष्ट्य यह है कि उन्होंने अनोटोलेफ्रांस की कृति 'थामस' के साथ तो चित्रलेखा का तुलनात्मक अध्ययन किया ही है, एक अप्लज्जात उपन्यास 'सामंत बीज गुप्त' (वनकाम सुनील) की कथा और विजन से भी चित्रलेखा उपन्यास की समानता-असमानता को रेखांकित किया है।

डॉ. दीपक कुमार त्यागी ने चित्रलेखा का पुनर्पाठ करते हुए इसकी मूल समस्या 'सार्थक जीवन और प्रेम की खोज' मानी है। अपने तर्कपूर्ण विवेचना के उपरांत डॉ. त्यागी का निष्कर्ष है- 'चित्रलेखा के माध्यम से भगवती बाबू ने अधिक साहस एवं स्पष्टता से पूर्व स्वीकृत धारणाओं, पूर्वाग्रहों, दुराग्रहों पर न केवल प्रश्न खड़े किए, बल्कि समाज को एक विकल्प भी दिया' (अनुशीलन, दिसम्बर २००३ ई. 'चित्रलेखा: जीवनदर्शन एवं प्रेम का संगीत' पृ. ११७) यह निष्कर्ष भी

‘स्वेच्छाचार’ का समर्थन नहीं लगता।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के कृतित्व पर डॉ. रमेश कुंतल मेघ ने गंभीरता से पुनर्विचार किया है लेकिन उनके उपन्यासों के नारी-चरित्रों को लेकर डॉ. रोहिणी अग्रवाल का आलेख खासा विचारोत्तेजक है। डॉ. अग्रवाल ने द्विवेदी जी के संपूर्ण उपन्यास साहित्य को मुक्तिकामी स्त्रियों के पर कतरने की व्यवस्था का स्तुतिगान माना है।^{३३} डॉ. नमिता सिंह भी द्विवेदी जी की नारी-संबंधी अवधारणा को रोमांटिक चेतना पर आधारित मानती हैं।^{३४} कथा प्रवृत्तियों के मूल्यांकन के कई अच्छे प्रयास इस शती के पहले दशक में ध्यान आकर्षित करते हैं। ‘नयी कहानी’ का पुनर्मूल्यांकन मधुरेश ने ‘नयी कहानी: पुनर्विचार’ शीर्षक कृति में किया है। वे मानते हैं कि कहानी को कहानी विधा का श्रेय ‘नयी कहानी’ ने दिलाया। लेकिन वे इस विडंबना को दुखपूर्वक उभारते हैं कि नयी कहानी में पनपे अनुभववाद ने सामाजिक अन्तर्वस्तु वाले अनेक लेखकों को हाशिये पर डाल दिया था। अमरकांत, हृदयेश, रामनारायण शुक्ल, ओमप्रकाश श्रीवास्तव इसके प्रमाण हैं।^{३५} पुनर्विचार की मुद्रा में लिखे गये एक आलेख ‘स्त्री कथाकारों की रचनायें : स्त्री विमर्श का संदर्भ’ में डॉ. शिव कुमार मिश्र ने महिला लेखन में केन्द्रस्थ विमर्श का मूल्यांकन किया है। इस आलेख का आरंभ आदि कवि के साक्ष्य से इस स्थापना के साथ हुआ है कि सीता और शम्बूक के ब्याज से स्त्री-विमर्श और दलित-विमर्श की नींव भारतीय सभ्यता के उषःकाल में जाने अनजाने पड़ गयी थी।^{३६} डॉ. मिश्र ने बहुत स्पष्ट कहा है कि नारी मुक्ति की लड़ाई में पुरुषों का सहयोगी होना जरूरी है और नारी के संस्कारों और आत्ममुग्धता से मुक्ति भी वांछित है: ‘...स्त्री मुक्ति का जो शत्रु संस्कार बनकर स्त्री के भीतर अपनी जड़ें जमाये हैं, सवाल उससे निपटने और उससे मुक्ति पाने का है, जो कठिन काम है। पुरुष के सहयोग से यह लड़ाई स्त्री को खुद अपने से लड़नी है।’^{३७} ‘उपन्यास’ को समय की यात्रा मानने वाले डॉ. विजय बहादुर सिंह का अपनी कृति ‘उपन्यास: समय और संवेदना’ में दावा है कि परिवर्तनकारी सार्थक लेखन या तो स्त्रियाँ करेंगी या दलित और पिछड़े हुये क्योंकि

इन्हीं के पास वे अनुभव हैं जिनमें आग भी है और उत्पीड़न से भरा कसैला धुँआ। इस कथन में सत्यांश होते हुये भी यह पूर्ण सत्य नहीं है। प्रेम शशांक की यह आशंका सही है कि ऐसा मानना महत्वपूर्ण लेखन को नकारना है। प्रेम शशांक के शब्दों में- ‘स्त्री और दलित-विमर्श के संदर्भ में सर्जनात्मक विधाओं में जो भी आ रहा है, पूर्व लेखन को अतिक्रमित करने में पूर्णतः विफल कहा जा सकता है क्योंकि यह किन्हीं आग्रहों से प्रेरित और संचालित है, जड़ों से कटा हुआ है। मात्र झण्डों और बैनरों से भविष्य की कल्पना बेईमानी लगती है।’^{३८} हिंदी कहानी पर विस्तार से पुनर्विचार के लिए डॉ. गोपाल राय कृत ‘हिंदी कहानी का इतिहास’ और डॉ. हरदयाल कृत ‘हिंदी कहानी: परंपरा और प्रगति’ पठनीय हैं।

उपन्यासालोचन के विकास में अनेक कृतियों के साथ अलग रचनाओं और रचनाकारों पर लिखे निबंधों की विशेष भूमिका रही है। डॉ. रामदरश मिश्र के शब्दों में “‘पुस्तकों की अपेक्षा निबंध विशिष्ट तथा गहरे हैं जो विशिष्ट उपन्यासों पर लिखे गये हैं। ये निबंध अनेक उपन्यासों का इतिहास देने की मजबूरी से मुक्त होकर उपन्यास-विशेष में प्रवेश करते हैं और उसकी चेतना के स्वरूप और उसके आयविक संगठन की पूरी गहराई के साथ परीक्षा करते हैं।’”^{३९} मिश्र जी का यह मतव्य नैमिचंद्र जैन संपादित ‘अधूरे साक्षात्कार’, ललित शुक्ल द्वारा संपादित ‘विवेक के रंग’ में संकलित निबंधों पर आधारित है और सर्वथा सटीक है। नयी शती में कथालोचना से संबंधित अनेक पुस्तकों की उपस्थिति में भी विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में छपे निबंध विचारोत्तेजक और महत्वपूर्ण हैं। कुछ अपवादों को छोड़ दें तो पुनर्पाठ और पुनर्मूल्यांकन के ये प्रयास वस्तुनिष्ठ और प्रमाणपुष्ट हैं। ये जहाँ कथा-समीक्षा के वयस्क होने की गवाही देते हैं, वहीं महज वक्तव्य उछालने के बजाय विवेचन, विश्लेषण और भाष्य के द्वारा कुछ नया खोजने और कहने की ललक साफ दिखायी देती है। कथा-साहित्य में जो ‘विमर्श’ सक्रिय रहे हैं, उनके प्रभाव और दबाव में मूल्यांकन के प्रतिमान और दिशाएँ भी परिवर्तित हुई हैं। लेकिन रचना के आस्वादन-पक्ष

की उपेक्षा प्रायः नहीं हुई है। केवल विचारों के नएपन पर न रीझ कर प्रायः कथालोचकों ने रचना के केन्द्रस्थ मूल संवेदना को पहचानने और उसको पाठकों तक संप्रेषित करने की शक्ति को रेखांकित करने की कोशिश की है। अर्थ, अनुभव और अभिव्यक्ति की संश्लिष्टता और जटिलता से जो रचनात्मकता निखरती है, कई निबंध सिर्फ 'कथ्य' के अनुशीलन तक सीमित न रहकर उसे भी समझने और परखने में विशेष रुचि दिखाते हैं। ये गवाह हैं कि 'क्लासिक' या 'कालजयी' या चर्चित कही जाने वाली रचनाओं में बहुत कुछ ऐसा है जो बदले हुए संदर्भों में, बदली हुई दृष्टि के साथ उजागर हो सकता है।

संदर्भ:

१. परिचय, दिसम्बर २००८, हुए तुम दोस्त जिसके..., पृ. १
२. इन्द्रप्रस्थ भारती, जुलाई-दिसम्बर २००८, पृ. २००
३. समकालीन भारतीय साहित्य, मई-जून २००६, पृ. २९
४. इन्द्रप्रस्थ भारती, जुलाई-दिसम्बर २००८, पृ. २०१
५. कांपती लौ: इक्कीसवीं शती के लिए आलोचिंतना, पृ. १४
६. वही, पृ. १५
७. वही, पृ. १८
९. वर्तमान साहित्य, अगस्त २००९, पृ. ५०
१०. वर्तमान साहित्य, अक्टूबर २००९, पृ. ३

११. कांपती लौ: इक्कीसवीं शती के लिए आलोचिंतना, पृ. ११३
१२. वही, पृ. १३०
१३. पुस्तक वार्ता, जनवरी-फरवरी २००८, पृ. २२
१४. वही, पृ. २४
१५. घासवाली, प्रस्तावना, पृ. ११
१६. अलाव, जुलाई-अगस्त २००९, पृ. १४
१७. समकालीन भारतीय साहित्य, मार्च-अप्रैल २००६, पृ. १२
१८. वही, पृ. १७
१९. हिंदी उपन्यास का इतिहास, पृ. १७१
२०. यशपाल का उपन्यास साहित्य, पृ. ३१
२१. हंस, दिसम्बर २००९, पृ. ४०
२२. वही, पृ. ४४
२३. अभिनव भारती २००५-२००६, आचार्य द्विवेदी : प्रेम और स्त्रीदृष्टि, पृ. २५८
२४. वही, पृ. २०८
२५. नयी कहानी : पुनर्विचार, पृ. १७
२६. शब्द शिखर, जनवरी २००७, पृ. ४३
२७. वही, पृ. ४९
२८. पाठ, जुलाई सितम्बर २००९, पृ. २६
२९. हिंदी आलोचना और आधारभूमि, पृ. ३६६

संपर्क:

डी-131, रमेश विहार, अलीगढ़- 202001, मो. 9837004113

आचार्य रामचंद्र शुक्ल का 'भाव'-विषेचन और 'उत्साह'-निरूपण: मनोवैज्ञानिक और चिंतनात्मक अमीचीनता-अअमीचीनता का प्रश्न!

पाण्डेय शशिभूषण 'शीतांशु'

सर्जनात्मक, सैद्धान्तिक, आलोचक

तथा अद्यतन भाषाविज्ञानी

'चिंतामणि', भाग-१ के आरंभ में आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने 'भाव या मनोविकार' के स्वरूप को सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों रूपों में स्पष्ट करने का प्रयास किया है। सबसे पहले उन्होंने इसे परिभाषित किया है- "नाना विषयों के बोध का विधान होने पर ही उनसे संबंध रखने वाली इच्छा की अनेकरूपता के अनुसार अनुभूति के वे भिन्न-भिन्न योग संघटित होते हैं, जो भाव या मनोविकार कहलाते हैं।" शुक्ल जी की मनोभाव-विषयक यह परिभाषा सुघटित प्रतीत होती है, पर इसका विश्लेषण करने से ज्ञात होता है कि शुक्ल जी ने इसमें विषय-बोध, उससे संबंधित इच्छा की विविधता और तदनुरूप विभिन्न रूपी योग को मनोभाव के घटक तत्त्व के रूप में स्वीकार किया है। उनकी यह परिभाषा मनोभाव के घटक-तत्त्वों पर आधारित है। उन्होंने इस परिभाषा में मनोभाव के लिए 'भाव' या 'मनोविकार' जैसे दो विकल्पात्मक पदों को ग्रहण किया है। जहाँ तक उनके द्वारा विकल्पात्मक रूप में 'मनोविकार' को ग्रहण किये जाने का प्रश्न है यह पद उनका मौलिक चयन नहीं है। यहाँ शुक्ल जी संस्कृत में अमरकोश के रचयिता अमरसिंह की भाव-विषयक परिभाषा से प्रभावित हैं। अमरकोश के अनुसार 'विकारो मानसो भावः' है। भानुदत्त की रसतरंगिणी में भाव की परिभाषा के संदर्भ में 'मनोविकार का तो नहीं, पर उसी अर्थ में 'विकार' शब्द का प्रयोग प्राप्त होता है- 'रसानुकूलो विकारो भावः'। इस प्रकार यहाँ रस के अनुकूल उत्पन्न होने वाले मन के विकार को ही भाव कहा गया है। भाष्यकर्ताओं ने विकार को अज्ञायमान वस्तु का ज्ञानमय होना निर्दिष्ट किया है। शुक्ल जी की उक्त परिभाषा में जो 'नाना विषयों के बोध' की बात कही गयी है, वह भानुदत्त की 'रसतरंगिणी' में की गयी विकार की व्याख्या पर आधारित है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि शुक्ल जी के द्वारा भाव या मनोविकार की; की गयी उपर्युक्त परिभाषा उनकी मौलिक परिभाषा नहीं है। पर यह भाव-विषयक भारतीय मान्यता पर आधारित है, जिसका उल्लेख संस्कृत में प्राप्त होता है। शुक्ल जी की परिभाषा के अनुसार भाव मन में जन्म लेते हैं और इसकी उत्पत्ति कई घटक-तत्त्वों के संयोग से होती है।

उन्होंने इसकी घटकीयता में 'इच्छा' को महत्त्व दिया है। उनके अनुसार यह इच्छा ही है, जो अपनी अनेकरूपता के अनुसार अनुभूति के भिन्न-भिन्न योग को संघटित कर भाव को उत्पन्न

करती है। उन्होंने परिभाषा देने के तुरंत बाद दो मूलभूत अनुभूतियों का उल्लेख किया है। ये अनुभूतियाँ सुख और दुःख की हैं। मनोविज्ञान में वून्ट (Woont) का त्रि-आयामी सिद्धांत (Three Dimensional Theory) प्रसिद्ध है। वहाँ सुख-दुःख को तीसरे स्थान पर मान्यता मिली है। पर इसके पूर्व और अतिरिक्त वहाँ दो अन्य भावों को मान्यता दी गयी है- १. तनाव-शिथिलता और २. उत्तेजना-अवसाद। मनोविज्ञान ने सुख-दुःख की अनुभूति को उत्तेजना (stimulus) की मन्दता-तीव्रता, इंद्रिय-संवेदना की रुचिकरता और अरुचिकरता, अभिरुचियों तथा मूल प्रवृत्तियों की परितुष्टि तथा सौन्दर्यानुभूति के भावाभाव पर निर्भर माना है। शुक्ल जी की सुख-दुःखात्मक अनुभूति की तरह उनसे पूर्व सिगमंड फ्रायड ने अधिक सटीक रूप में जिजीविषा (Eros) और मुमूर्षा (Thanatos) को मूल भाव माना है। जिजीविषा में जीवन के संरक्षण तथा अहं और कामेच्छा के संरक्षण का समावेश किया गया है। मुमूर्षा या मरणवृत्ति (Thanatos) एक प्रकार का ध्वंसात्मक भाव है, जो एक ओर दूसरों को मारने के लिए और दूसरी ओर अपने को ही मिटा देने, आत्मघात कर लेने के लिए विवश करता है। इसके अन्तर्गत द्वेष और क्रोध का भी समावेश रहता है।

शुक्ल जी ने भाव या मनोविकार पर विचार करने के बाद नौ भावों- १. उत्साह २. श्रद्धा-भक्ति ३. करुणा ४. लज्जा और ग्लानि ५. लोभ और प्रीति ६. घृणा ७. ईर्ष्या ८. भय और ९. क्रोध पर बौद्धिक विमर्शपरक निबंध लिखे हैं। इस विषय-सूची को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि शुक्ल जी ने उन भावों को अपने विचार का विषय बनाया है, जो भारतीय परंपरा में काव्यशास्त्र के रस-प्रकरण में विवेच्य रहे हैं। वहाँ भाव की परिभाषा 'वागंग सत्त्वोपेतान् काव्यार्थान् भावयंतीति भावः' कहकर दी गयी है (प. विश्वनाथ)। शुक्ल जी ने जिन भावों को अपना विवेच्य बनाया है, वे प्रायः काव्यशास्त्र में विवेचित स्थायी भाव और संचारी भाव हैं। उनके द्वारा विवेचित १. उत्साह, २. करुणा (शोक), ३. घृणा (जुगुप्सा) ४. भय और ५. क्रोध स्थायी भाव ही हैं। प्रीति भी एक प्रकार से 'रति' नामक स्थायी भाव का पर्याय ही है। अतः यह भी

स्थायी भाव है। इनके अतिरिक्त लज्जा और ग्लानि तथा ईर्ष्या (असूया)। ये तीनों संचारी भाव हैं। ये भरत के द्वारा निर्दिष्ट तैंतीस संचारियों में परिगणित हैं। अब शेष रह जाता है शुक्ल जी का श्रद्धा और भक्ति-विषयक भाव। अभिनवगुप्त ने भक्ति और श्रद्धा को भाव नहीं माना, पर उसे स्मृति, मति, धृति, उत्साह आदि में ही समाविष्ट किया तथा उन्हें इनका अंग-रूप माना। पर बाद में मम्मट ने इनमें भक्ति को भाव-विशेष के रूप में स्पष्ट मान्यता प्रदान कर दी। इस तरह शुक्ल जी के द्वारा विवेचित उक्त सारे भावों की पृष्ठभूमि भारतीय (संस्कृत) काव्यशास्त्र से संबंधित है और उसी पृष्ठभूमि में वे उनके यहाँ विद्यमान हैं।

शुक्ल जी मानते हैं कि भाव की स्थिति प्राथमिक है और वाणी से उसकी अभिव्यक्ति तथा उसकी शारीरिक अनुक्रिया की स्थिति द्वितीयक है। मनोविज्ञान का सामान्य सिद्धांत भी यही कहता है कि पहले संवेगात्मक अनुभूति होती है, बाद में शारीरिक अनुक्रिया होती है। पहले भावोद्रेक, फिर उसका वाणी और शरीर में प्रतिफलन। पर जेम्स-लॉंग सिद्धांत (James-Lange theory) इसे नकारता है। विलियम जेम्स (William James, 1842-1910) ने १८८४ में Mind नामक जर्नल में इस आशय का अपना शोधपत्र प्रस्तुत किया, जिसे उसने 'Principles of Psychology' (1890) में अभिवर्धित-प्रतिपादित किया। भाव या सांवेगिक अनुभूति की प्राथमिक स्थिति का खंडन करते हुए उसने लिखा कि "My thesis on the contrary, is that the bodily changes follow directly the perception of the exciting fact, and that our feeling of the same changes as they occur is the emotion....we feel sorry because we cry, angry because we strike, afraid because we tremble." (Volume 2, page 449) आशय यह है कि भाव या संवेग की अनुभूति शारीरिक परिवर्तनों के कारण होने वाली अनुभूति है। किसी भी उत्तेजना (Stimulus) के सामने आने पर जो शारीरिक परिवर्तन घटित होते हैं उसकी अनुभूति उसके तत्काल बाद होती है। इसके अनुसार बच्चे रोते हैं, इसलिए दुःखी होते हैं, हम प्रहार करते, आघात करते, मारते हैं, इसलिए क्रोध की अनुभूति होती

है, हम काँपते हैं या भागते हैं, इसलिए भय की अनुभूति होती है। इस मान्यता के अनुसार भाव या संवेग का अस्तित्व शारीरिक परिवर्तनों के साथ जुड़ा है। भाव इसका परवर्ती परिणाम है, पूर्ववर्ती कारण नहीं है। जेम्स के साथ-साथ डैनिस मनोविज्ञानी लांगे (Cail George Lange, 1834-1900) ने भी इस संदर्भ में स्वतंत्र रूप में अपनी पुस्तक *Om sinds Bevagetrer* (1885) में इसी सिद्धांत का जेम्स से पहले प्रतिपादन किया था। दोनों में अंतर इतना ही है कि लांगे ने संवेग को सीधे उससे संबंधित शारीरिक प्रतिक्रियाओं से जोड़ दिया। उसने उसकी मानसिक स्थिति का कोई उल्लेख ही नहीं किया। ठीक ऐसा ही विचार वाल्टर ब्रैडफोर्ड कैन्नन (Walter Bradford Cannon, 1871-1945) के सिद्धांत में निरूपित है। इस अमेरिकी मनोविज्ञानी ने अपने सिद्धांत में यह स्पष्ट किया कि शारीरिक-सांवेगिक परिवर्तन वस्तुतः उत्तेजना प्राप्त होने पर प्रमस्तिष्कीय वल्कल (Cerebral Cortex) में अन्तःपुर (Thalamus) के संकेतों के द्वारा संचालित होते हैं। यहाँ भी इसकी मानसिक स्थिति का कोई उल्लेख नहीं किया गया पर इन मनोविज्ञानियों द्वारा किये गये उक्त स्थापनाओं से भी पूर्व प्रसिद्ध दार्शनिक देकार्त ने भाव या संवेग के स्वरूप के विषय में ठीक यही प्रतिपादन प्रस्तुत किया था। परवर्ती चिंतन देकार्त के चिंतन का ही विकास है।

अतः शुक्ल जी के द्वारा भाव की मानसिक स्थिति की प्राथमिकता या पूर्ववर्तिता का प्रतिपादन मनोवैज्ञानिक दृष्टि से खंडित हो जाता है। जब शुक्ल जी ने भाव के स्वरूप पर प्रकाश डाला और भावों पर अपने बौद्धिक निबंध प्रस्तुत किये उससे काफी पहले जेम्स और लांगे की भाव या संवेग-विषयक स्थापना सामने आ चुकी थी। पर शुक्ल जी ने अपने प्रतिपादन के समय इस विषय पर हुए पाश्चात्य चिंतन की ओर ध्यान नहीं दिया, जबकि भाव के स्वरूप-विवेचन के संदर्भ में उसकी मनोवैज्ञानिक समीचीनता की दृष्टि से यह अपेक्षित था।

उपर्युक्त विवेचन के संदर्भ में एक बार भाव-विषयक शुक्ल जी की परिभाषा पर पुनः विचार करें। शुक्ल जी ने अपनी परिभाषा में 'इच्छा' शब्द का प्रयोग किया है। शुक्ल जी 'नाना विषयों के बोध' की बात करते हैं, पर

मनोविज्ञान में इसके लिए उत्तेजना या उद्दीपन (Stimulus) शब्द का सटीक प्रयोग प्राप्त होता है। इस दृष्टि से यह 'नाना विषयों का बोध रूपी उद्दीपन' होगा। 'उद्दीपन' शब्द का प्रयोग भारतीय काव्यशास्त्र में विभाव के एक प्रभेद के रूप में भी किया गया है। शुक्ल जी व्यापार और प्रक्रिया की दृष्टि से इसे भारतीय काव्यशास्त्र की अर्थ-सीमा से अधिक व्यापक अर्थ देते हुए इसे अपनी परिभाषा में स्थान दे सकते थे, जो अधिक सटीक और समीचीन होता। पर उन्होंने ऐसा नहीं किया। भारतीय काव्यशास्त्र में रसोद्रेक या रस-निष्पत्ति के लिए हृदयस्थ स्थायी भाव के साथ जिन तत्त्वों का संयोग निरूपित किया गया उनमें उद्दीपन (विभाव) भी एक है। पर शुक्ल जी का ध्यान इस ओर नहीं जा सका। पर भारतीय काव्यशास्त्र की स्थापना के आधार पर ही उन्होंने भाव की मानसिक पूर्व स्थिति को स्वीकार कर लिया। वास्तविकता यह है कि उत्तेजना के सामने आने पर किसी भी भाव का उद्रेक इतना त्वरित होता है और उत्तेजना से सीधे प्रेरित (Motivated) होता है कि वहाँ 'इच्छा' के लिए कोई गुंजाइश ही नहीं रह जाती है। भाव चाहे शारीरिक परिवर्तनों के संदर्भ में पूर्ववर्ती हों या परवर्ती दोनों ही स्थितियों में वह सीधे उद्दीपन या उत्तेजना से प्रेरित (Motivated) होते हैं। यहाँ 'इच्छा' के लिए कहीं कोई स्थान नहीं है। उद्दीपन के प्रत्यक्ष या साक्षात् होने के तत्काल बाद कोई 'इच्छा' उत्पन्न नहीं होती। यहाँ इसके लिए अवकाश ही नहीं है, यहाँ तो सीधे अभिप्रेरण (Motivation) प्राप्त होता है और शारीरिक परिवर्तनों से भाव स्वरूपित हो उठता है। अभिप्रेरण ही क्रिया को उत्पन्न करता है, उसे बनाये रखता है, साथ ही लक्ष्य की निश्चित दिशा की ओर उसे उन्मुख करता है। इस प्रकार यहाँ 'इच्छा' भाव को स्वरूपित करने और शारीरिक परिवर्तन को घटित करने का कारक तत्त्व नहीं है। यह कारकतत्त्व अभिप्रेरण (Motivation) को प्राप्त है। यही मनोविज्ञान सम्मत है और भावानुभव की स्वानुभूत प्रक्रिया से भी सम्मत है। अतः यहाँ शुक्ल जी की भाव-विषयक परिभाषा खंडित हो जाती है। वह असमीचीन और अयौक्तिक सिद्ध होती है। उक्त परिभाषा उनके एतद्विषयक ज्ञान और चिंतन की सीमा का ही इजहार करती है। इस

तरह उनकी यह स्थापना भी खंडित हो जाती है कि “विषय-बोध की विभिन्नता तथा उससे संबंध रखने वाली इच्छाओं की विभिन्नता के अनुसार मनोविकारों की अनेकरूपता का विकास होता है।”

शुक्ल जी ने ‘भाव’ को परिभाषित करने के क्रम में भारतीय काव्यशास्त्र की मान्यता को भी अस्वीकार कर दिया है। काव्यशास्त्र के अनुसार स्थायी भाव हृदयस्थ होते हैं। वे हृदय में पहले से विद्यमान होते हैं। उद्रेक होने पर ये मनोदैहिक व्यक्तित्व पर परिव्याप्त हो जाते हैं।

‘भावयन्ति’ जिस मूल धातु से बना है वह धातु है ‘भावय’। इन दोनों का ही अर्थ परिव्याप्त होना है। पर शुक्ल जी ‘भाव’ को पहले से हृदय में स्थित नहीं मानते हैं। उनकी परिभाषा भी यही कहती है कि भाव अनुभूति के भिन्न-भिन्न योग से संघटित होते हैं। यह उनकी मौलिक स्थापना है। उसमें भाव-प्रक्रिया में जिसकी कोई जगह नहीं वह ‘इच्छा’ तो विद्यमान है, पर जिस व्याप्त-परिव्याप्त करने की विशेषता ‘भाव’ के धात्वर्थ से जुड़ी है, उसका कहीं कोई उल्लेख नहीं है। उत्तेजना से तत्संबंधी शारीरिक परिवर्तन घटित होते ही यह भाव शरीर के साथ-साथ मन में, मानसिकता में भी व्याप्त परिव्याप्त हो जाता है। भाव की यह परिव्याप्ति मनोदैहिक है। शुक्ल जी के अनुसार यह पहले मानसिक है, फिर शारीरिक और जेम्स-लांगे सिद्धांत के अनुसार यह पहले शारीरिक है, फिर मानसिक। पर दोनों ही स्थितियों में इसका मनोदैहिक व्याप्तीकरण तो अनिवार्यतः विद्यमान हैं। आश्चर्य है कि शुक्ल जी ने अपनी परिभाषा में ‘भाव’ के इस स्वरूपगत वैशिष्ट्य का भला क्यों उल्लेख नहीं किया।

‘भाव’ को जहाँ भारतीय काव्यशास्त्रियों ने पहले से सुषुप्त रूप में हृदयस्थ माना, वहीं पश्चिमी विचारकों ने इसे मूलवृत्ति (Instinct) के रूप में भी देखा। इस सिद्धांत के प्रवर्तक मैकडूनल माने जाते हैं। उन्होंने १४ मूलवृत्तियाँ स्वीकार की हैं। इनमें ‘भाव’ में परिगणित होने वाली भागना, लड़ना, हँसना जैसी मूल वृत्तियाँ भी सम्मिलित हैं। स्मरणीय है कि फ्रायड ने जिजीविषा (Eros) और मुमूर्षा (Thanatos) जैसी दो मूल वृत्तियाँ मानी हैं। ये मूल वृत्तियाँ जन्मजात रूप में मनुष्य के अन्तर्मन में निहित होती

हैं। पर शुक्ल जी ने ‘भाव’ के संदर्भ में इस पर भी विचार नहीं किया। वे ‘भाव’ के स्वरूप को एक व्यापक संदर्भ में पुनरीक्षित-परीक्षित कर उस पर मौलिक रूप में चिंतन नहीं कर सके। वह ‘भाव’ के लिए ‘मनोविकार’ शब्द का अपनी समसामयिकता में प्रयोग करने से अपने को रोक नहीं सके। शुक्ल जी जिस समय ‘मनोविकार’ शब्द या पद प्रयोग कर रहे थे उस समय ‘मनोविकार’ मानसिक रोग के संदर्भ में प्रयुक्त होने लगा था। कभी ‘भाव’ को ‘मनोविकार’ कहने से जो अर्थ निर्गत और सम्प्रेषित होता था वह अर्थ आज ‘मनोविकार’ शब्द से ग्रहण नहीं किया जा पाता है। इसके विपरीत उससे मन की विकृतियों (diseases) का ज्ञापन होता है। शुक्ल जी का ध्यान अपनी समकालीनता में इस ओर नहीं जा सका। शुक्ल जी ने ‘भाव’ के साथ ‘संवेग’ पर विचार नहीं किया। ‘भाव’ और ‘संवेग’ प्रायः पर्याय हैं। सक्रिय भाव ही संवेग कहलाते हैं। इसी तरह ‘भाव’ के संदर्भ में ‘मूलवृत्ति’ (Instinct) पर भी विचार अपेक्षित था। इन सबके अभाव में शुक्ल जी ‘भाव’ की परिभाषा और उसके स्वरूप-विवेचन को अपेक्षित सार्थकता नहीं प्रदान कर सके।

परिभाषा करने के बाद शुक्ल जी ने भाव का जो स्वरूप-विवेचन किया है उसे पढ़कर अनेक प्रश्न उठ खड़े होते हैं। वे सभी भावों को सुख या दुःख से जोड़ते हैं और यहाँ भी वह चेतन रूप में ‘इच्छा’ की भूमिका को महत्व देते हैं। इसके अभाव में अभिप्रेरण की सक्रियता को भी वह स्वीकार नहीं करते हैं- “अतः जब तक भागना, छिपना या मारना, झपटना इत्यादि प्रयत्नों के द्वारा इच्छा के स्वरूप का पता न लगेगा तब तक भय क्रोध की सत्ता पूर्णतया व्यक्त न होगी।” यहाँ पहली द्रष्टव्य बात यह है कि भाव या संवेग के संदर्भ में उपर्युक्त क्रियाएँ प्रयत्नज नहीं होतीं, अपितु स्वभावज होती हैं, स्वचालित (Automatic) होती हैं। उत्तेजना और प्रतिक्रिया के बीच अंतराल नहीं होता है और जब होता है तब वहाँ ‘इच्छा’ का नहीं, विवेक का दखल होता है और ‘विवेक’ उपाय सुझाता है। ऐसा ‘भय’ के संदर्भ में भय की अतात्कालिकता, आसन्नता, संभावना आदि को देख कर निश्चित किया जाता है। पर ‘भय’ की तात्कालिक उत्तेजना की स्थिति में कोई अंतराल

नहीं होता। वहाँ प्रतिक्रिया भाव या संवेग के रूप में त्वरित होती है और स्वचल होती है। वस्तुतः 'इच्छा' को स्वीकार कर शुक्ल जी भाव पूर्ववर्ती मानसिक स्थिति वाली अपनी मान्यता के साथ-साथ 'इच्छा' की पूर्ववर्ती स्थिति को भी स्वीकार करते हैं। बिना इसके उत्तेजना के उपस्थित होते ही जो शारीरिक परिवर्तन उपस्थित होते हैं उन्हें शुक्ल जी 'लक्षण-मात्र' कहते हैं- "पर हम चाहे कितना ही उछल-कूद कर हँसे, कितना ही हाथ-पैर पटक कर रोयें, हम हँसने या रोने का प्रयत्न नहीं कह सकते। ये सुख और दुःख के अनिवार्य लक्षण-मात्र हैं, जो किसी प्रकार की इच्छा का पता नहीं देते। 'इच्छा' के बिना कोई शारीरिक क्रिया प्रयत्न नहीं कहला सकती।" अपनी इस स्थापना व्याख्या में शुक्ल जी 'इच्छा' के साथ-साथ 'प्रयत्न' को भी सांवेगिक या भाववश होने वाले शारीरिक परिवर्तन के पूर्व ले आते हैं। कहना न होगा कि उनके द्वारा निर्दिष्ट भाव-विषयक यह सारी मानसिक रासायनिक-प्रक्रिया घोर भ्रांतिपूर्ण, अतात्त्विक और असंगत है। पर इसे भूल कर जब शुक्ल जी अपने 'उत्साह' नामक निबंध में यह कहते हैं कि "बुद्धि द्वारा पूर्ण रूप से निश्चित की हुई व्यापार-परंपरा का नाम ही प्रयत्न है," तब उनकी मान्यता और बोध (?) का अन्तर्विरोध खुलकर सामने आ जाता है, क्योंकि भाव के स्वरूप-विवेचन में उन्होंने ही यह स्थापना की है कि "इच्छा के बिना कोई शारीरिक क्रिया प्रयत्न नहीं कहला सकती।" अब पाठक ऐसी स्थापना करने वाले को क्या समझे और स्वयं इन दोनों में किसे स्वीकार करें?

शुक्ल जी 'भाव' के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए एक और नयी और चौंकाने वाली स्थापना करते हैं- "बात यह है कि भावों द्वारा प्रेरित प्रयत्न या व्यापार परिमित होते हैं। पर वाणी के प्रसार की कोई सीमा नहीं।" पर यहाँ क्रोध के संदर्भ में शुक्ल जी कुछ मुहावरों को गिना कर वाणी के प्रसार को सीमित ही कर देते हैं। यहाँ यह अपेक्षित था कि वह वाणी के प्रसार की निस्सीमता को निरूपित करने के लिए निस्सीम अपशब्दों (Abuses) या गालियों के धड़ाधड़ प्रयोग का दृष्टांत देते अथवा उस ओर संकेत अवश्य कर देते। पर इस ओर उनका ध्यान नहीं जा सका, जबकि क्रोध में गालियों के धुँआधार प्रयोग से सभी परिचित हैं। यहाँ

शुक्ल जी भावात्मक या सांवेगिक शारीरिक परिवर्तन और भावात्मक या सांवेगिक वाचिक अभिव्यक्ति की तुलना कर रहे हैं। उनकी यह स्वरूप-व्याख्या भी घोर असंगतियों और अन्तर्विरोधों से भरी है। यहाँ वे सीधे 'भावों' द्वारा प्रेरित प्रयत्न या व्यापार की बात करते हैं, 'इच्छा' की पूर्ववर्तिता की कोई बात नहीं करते, जिस पर अपने पूर्व विवेचन में वे आत्यन्तिक बल दे चुके हैं। दूसरे, वह यहाँ शारीरिक व्यापार से पहले 'प्रयत्न' की स्थिति या उसकी पूर्ववर्तिका की अपनी पूर्व विवेचित मान्यता को भी छोड़ देते हैं और प्रयत्न तथा शारीरिक परिवर्तन वाले व्यापार दोनों की विकल्पात्मक सत्ता को स्वीकार करते हुए कहते हैं- 'प्रयत्न या व्यापार।' उनका यह अंतर्विरोध उनकी स्थापनापरक असंगति को निर्दिष्ट करता है। ऐसा हिंदी में ही संभव है कि लेखक-आलोचक अपने को परब्रह्मा मानकर अपनी असंगत स्थापनाएँ पाठक पर थोपता चले। और यह मानकर चले कि उसने जो लिख दिया पाठक उसे स्वीकार कर चले उसकी बुद्धि में उस पर कोई पुनर्विचार करने वाला कभी आएगा नहीं। अतः उसे अपनी स्थापना को पाठकों के सम्मुख रखने के पूर्व किसी भी रूप में उसे पुनर्विचारित करने की कोई अपेक्षा प्रतीत नहीं होती है। अपनी उक्त स्थापना में शुक्ल जी 'भाव' को और 'वाणी के प्रसार' को एक दूसरे के समान्तर रूप में प्रस्तुत करते हैं। पर स्थिति ऐसी है नहीं। वस्तुतः यहाँ वे कारण-कार्य नियम को तोड़कर अपने वाग्वल की सृष्टि करते हैं, जिससे पाठक का ध्यान स्थापनागत असंगति की ओर न जा सके। यहाँ भाव या संवेग ही मूल कारण है। जिस तरह उसके द्वारा 'प्रयत्न' या 'व्यापार' प्रेरित होते हैं, उसी तरह वाचिक अभिव्यक्ति या 'वाणी' भी प्रेरित होती है। अतः शुक्ल जी के ही पूर्वापर संबंध के दृष्टिकोण से यहाँ शारीरिक और वाचिक दोनों ही परवर्ती अभिव्यक्तियों का कारक 'भाव' है। पर शुक्ल जी यहाँ 'वाणी के प्रसार' को भाव या संवेग-प्रेरित नहीं मान कर उसके समांतर एक प्रतिपक्ष के रूप में उपस्थापित करते हैं और भाव-प्रेरित शारीरिक परिवर्तन को इसकी अपेक्षा कहीं सीमित घोषित करते हैं।

शुक्ल जी भाव के स्वरूप-विवेचन के संदर्भ में भाव

या संवेग-प्रेरित शारीरिक परिवर्तन के कर्मपक्ष और उसी भाव से अनुप्रेरित वाणी की मुखरता के पक्ष के बीच न तो संतुलन रख पाते हैं और न तथ्यतः उसको विशेष महत्त्व दे पाते हैं, जिसके परिणामवश वह भाव या संवेग-विशेष अस्तित्वमय होता है। वह लिखते हैं, “वीर रस की जैसी अच्छी और परिष्कृत अनुभूति उत्साहपूर्ण उक्तियों द्वारा होती है वैसी तत्परता के साथ हथियार चलाने और रणक्षेत्र में उछलने-कूदने के वर्णन में नहीं।” यहाँ वे भाव या संवेग के संदर्भ में यानी भावाभिव्यक्ति की दृष्टि से वचन पक्ष को महत्त्व और श्रेय देते हैं तथा कर्मपक्ष को उससे अवरकोटिक निरूपित करते हैं। पर ऐसी स्थापना करने के पश्चात् निबंध-लेखन के क्रम में उनकी यह मान्यता बदल जाती है और वह इस पृष्ठभूमि में पुनः अन्तर्विरोधी स्थापना कर बैठते हैं। उदाहरण के लिए ‘उत्साह’ नामक भाव का विवेचन करते हुए वह लिखते हैं, “उत्साह में कष्ट या हानि सहने की दृढ़ता के साथ-साथ कर्म में प्रवृत्त होने के आनंद का योग रहता है।..... कर्म-सौंदर्य के उपासक ही सच्चे उत्साही कहलाते हैं।”.... “हमारे देखने में तो उद्योग की तत्परता में ही उत्साह की अभिव्यक्ति होती है।”.... “प्रयत्न और कर्म-संकल्प उत्साह नामक आनंद के नित्य लक्षण हैं।” “कर्म-भावना ही उत्साह उत्पन्न करती है, वस्तु या व्यक्ति की भावना नहीं।”.... अतः हम कह सकते हैं कि कर्म-भावना प्रधान उत्साह ही सच्चा उत्साह है।” अपने इस पूरे निबंध में उन्होंने कहीं भी ‘उत्साह’ को द्योतित करने वाली वाचिक अभिव्यक्ति का कोई दृष्टांत प्रस्तुत नहीं किया है, अपितु इस निबंध में ही कहीं कर्मपक्ष का महत्त्व ही दर्शाया है। इसी कर्म पक्ष को भाव के स्वरूप-विवेचन के संदर्भ में वह ‘हथियार चलाना और रण-क्षेत्र में उछलना-कूदना’ कह कर उसकी अप्रतिष्ठा करते हैं। पर अपने ‘उत्साह’ नामक निबंध में एक दूसरे प्रकार की ‘उछल-कूद’ को वे महत्त्व देते हैं- “यदि किसी प्रिय मित्र के आने का समाचार पाकर हम चुपचाप ज्यों-के-त्यों बैठे रह जाएँ या थोड़ा हँस भी दें, तो यह हमारा उत्साह नहीं कहा जाएगा। हमारा उत्साह तभी कहा जाएगा जब हम अपने मित्र का आगमन सुनते ही उठ खड़े होंगे। उससे मिलने के लिए दौड़ पड़ेंगे और उसके ठहरने

आदि के प्रबंध में प्रसन्न-मुख इधर-उधर आते-आते दिखाई देंगे।” आखिर ऐसा क्या है कि शुक्ल जी अचानक मित्र के सामने आ-उपस्थित होने पर अपने उत्साह की वाणी से की जाने वाली अनेक प्रकार की उक्तियों का उल्लेख नहीं कर पाते और आगमन का समाचार सुनते ही उसे कर्म-केन्द्रित कर देते हैं। इस प्रकार ‘स्वरूप-विवेचन’ और निबंध-लेखन’ की स्थापनाओं का यह पारदर्शी अन्तर्विरोध शुक्ल जी के समीचीन साहित्य-विवेक पर प्रश्न-चिह्न खड़ा कर देता है।

भाव का स्वरूप-विवेचन करते हुए शुक्ल जी यह स्थापना भी कर जाते हैं कि “समस्त मानव-जीवन के प्रवर्तक भाव या मनोविकार ही होते हैं। मनुष्य की प्रवृत्तियों की तह में अनेक प्रकार के भाव ही प्रेरक के रूप में पाये जाते हैं।” इस प्रकार वे भाव के महत्त्व को रेखांकित करते हैं। पर ऐसा लिखते हुए क्या वह भाव के साथ ‘मूलवृत्ति’ (Instinct) को भी समेट लेते हैं। यहाँ प्रवृत्तियों से उनका क्या आशय है, यह स्पष्ट नहीं हो पाता है। वह सामान्य प्रवृत्तियों की बात कर रहे हैं या मूल प्रवृत्ति की? यदि सामान्य प्रवृत्ति की बात कर रहे हैं, तो उनके द्वारा निरूपित ‘भाव’ मूलवृत्ति (Instinct) की भूमिका में आ जाता है। तभी उनके इस प्रतिपादन को सार्थकता मिल पाती है। ऐसे में ‘भाव’ और ‘मूलवृत्ति’ दोनों के पारस्परिक पार्थक्य या दोनों की एकता के संबंध में उन्हें इस स्थल पर विचार करना चाहिए था। यदि एकता है, तो किन-किन भावों की है। तत्पश्चात् भाव का किया जाने वाला प्रतिपादन समीचीन हो पाता।

भाव-विषयक किये जाने वाले स्वरूप-विवेचन के अंत में शुक्ल जी ने एक महत्त्वपूर्ण टिप्पणी की है- “जिस प्रकार ज्ञान नरसत्ता के प्रसार के लिए है उसी प्रकार हृदय भी। रागात्मिका वृत्ति के प्रसार के बिना विश्व के साथ जीवन का प्रकृत सामंजस्य घटित नहीं हो सकता। जब मनुष्य के सुख और आनंद का मेल शेष-प्रकृति के सुख-सौंदर्य के साथ हो जाएगा, जब उसकी रक्षा का भाव तृण-गुल्म, वृक्ष-लता, पशु-पक्षी, कीट-पतंग सबकी रक्षा के भाव के साथ समन्वित हो जाएगा, तब उसके अवतार का उद्देश्य पूर्ण हो जाएगा और जगत् का सच्चा प्रतिनिधि हो

जाएगा। काव्य-योग (भाव-योग ?- लेखक) की साधना इसी भूमि पर पहुँचाने के लिए हैं।” अपनी इस महत्वपूर्ण टिप्पणी को शुक्ल जी भाव-विमर्श के साथ समीचीन रूप में तालमेल बिठाते हुए समन्वित नहीं कर पाते हैं। इसके पूर्व वह शासन क्षेत्र और धर्म-क्षेत्र का उल्लेख करते हैं। शासन की सीमा निर्दिष्ट करते हुए वह कविता को महत्व देते हैं और उसे धर्म-क्षेत्र में शक्ति-भावना को जाग्रत करने वाली के रूप में निर्दिष्ट करते हैं। यहाँ ‘भाव’ के साथ उपर्युक्त टिप्पणी की अन्विति सम्यक् रूप में नहीं हो पाती है। यदि यह टिप्पणी ‘कविता क्या है’ का एक अनुभाग बनती या ‘इतिहास’ में ‘कामायनी’ पर लिखने के संदर्भ में इसे श्रद्धा और मनु के संदर्भ में निरूपित किया गया होता, तो यह अधिकाधिक प्रासंगिक बन पड़ती।

उत्साह को परिभाषित करते हुए शुक्ल जी ने लिखा है, “साहसपूर्ण आनंद की उमंग का नाम उत्साह है।” यानी ‘उत्साह’ का मूल आनंद है। वही विशेष्य है, शेष विशेषण हैं। उचित होगा कि इसकी व्युत्पत्ति और व्युत्पत्त्यर्थ को देख लें। ‘उत्साह’ की व्युत्पत्ति कोशों में प्रायः (उत्+सह+घञ्) (‘उत्’ उपसर्ग, ‘सह’ धातु और ‘घञ्’ प्रत्यय) के संयोग से मानी गयी है। यहाँ ‘सह’ धातु का अर्थ ‘सहन करने’ से लिया गया है। पर इससे उत्साह-विषयक कोई सार्थक व्युत्पत्त्यर्थ नहीं निकल पाता है। इसका व्युत्पत्त्यर्थ होता है अच्छी तरह या चोटी तक सहनशील। पर उत्साह का अर्थ किया जाता है किसी कार्य के लिए प्रसन्नमन तत्परता से अग्रसर होना। पर इसके व्युत्पत्त्यर्थ में प्रसन्नता कहीं नहीं है। हाँ, यदि ‘सह’ का अर्थ ‘साथ’ लिया जाए, तो ऊँचे मन से, चढ़ते मन से दृढ़तापूर्वक किसी कार्य या लक्ष्य की सिद्धि के लिए उसके साथ जुड़ने का भाव ‘उत्साह’ सिद्ध होता है। यह व्युत्पत्त्यर्थ उत्साह के स्वरूप को सार्थकता प्रदान करता है। यहाँ उपसर्ग और धातु दोनों अपनी सार्थकता दिखाते हैं। यही प्रामाणिक है। पर जिसने भी ‘सह’ धातु मानते हुए और सहने का अर्थ निर्दिष्ट करते हुए ‘उत्साह’ में प्रसन्नता को जोड़ा उसने अनर्थ किया और ‘उत्साह’ के अपने अभिप्राय और स्वरूप को दबा दिया। ‘उत्’ उपसर्ग से जो ‘ऊँचे मन से’, ‘चढ़ते मन से’ का व्युत्पत्त्यर्थ ग्रहणीय या ग्राह्य है,

उसे विद्वानों ने तिरस्कृत कर दिया और उसका सही लक्ष्यार्थ भी ग्रहण नहीं किया। यही लक्ष्यार्थ है ‘संकल्पित मन से’, ‘कार्यसिद्धि के प्रति आत्मविश्वास से’, जो इस स्थायी भाव के संदर्भ में युक्तियुक्त और संगत है। पर इससे ‘प्रसन्नता’ या आनंद का अर्थ लेना गलत है, क्योंकि उससे ‘संकल्पित चित्त’ और आत्मविश्वास-पूरित वाला अर्थ दब जाता है, उपेक्षित हो जाता है। इसीलिए मैं ‘प्रसन्नता’ या ‘आनंद’ के साथ जोड़े गये अर्थ से सहमत नहीं हूँ। इसीलिए परिभाषा में आया ‘आनंद’ शब्द ‘उत्साह’ के मूलभूत प्रयोजन की सिद्धि की दृष्टि से अपनी उपयुक्तता सिद्ध नहीं कर पाता है। ‘साहस’ का भी कोई प्रत्यक्ष संबंध व्युत्पत्त्यर्थ से नहीं बन पाता है। पर संकल्प चित्ता, आत्मविश्वासपरकता और दृढ़ता से उसकी व्यंजना हो जाती है। उत्साह में साहस की स्थिति होती है और उमंग या जोश की भी स्थिति होती है। पर जिस वीरता का यह स्थायी भाव है, उसमें यह एक प्रकार से आत्मविश्वास के साथ-साथ क्रोध या रोष के भाव से भी जुड़ा हुआ है। आनंद उसके कर्मक्षेत्र के फलागम की वृत्ति या मनःस्थिति है। अतः उमंग या जोश यहाँ आनंद से नहीं जुड़कर साहस से जुड़ा हुआ है। साथ ही यहाँ यह भी चिन्त्य है कि आनंद जैसी अनुभूति भला साहसपूर्ण कैसे हो सकती है? क्या आनंद शुद्ध आनंद नहीं होता? इस प्रकार आत्मविश्वास से भरे साहसपूर्ण कर्मोन्मुख (युद्धोन्मुख) उमंग या जोश का नाम तो उत्साह सिद्ध होता है, पर ‘साहसपूर्ण आनंद की उमंग’ का नाम नहीं। युद्ध जैसे कर्मक्षेत्र में जाते समय और युद्ध करते समय व्यावहारिक दृष्टि से साहसपूर्ण उमंग या जोश के साथ क्रोध और रोष की स्थिति होती है, आनंद की नहीं। आनंद या प्रसन्नता अपनी प्रकृति में एक प्रकार का निष्क्रिय भाव है। यह कर्ममय भाव नहीं है, एक प्रकार से निश्चेष्ट भाव है, जो अनुभव-मात्र है। पर उत्साह निष्क्रिय नहीं, सचेष्ट और कर्मोन्मुख भाव है, जो एक ओर युद्ध क्षेत्र में अस्त्र-शस्त्र के प्रहारों से वीरता का प्रदर्शन करता है, तथा दूसरी ओर अपने प्रतिपक्ष का संहार करता है। यहाँ यह हिंस्र कर्म में योद्धा को संलग्न करता है और फलागम तक स्वयं को संलग्न बनाये रखता है। ‘राम की शक्तिपूजा’ में राम-रावण का युद्ध हो रहा है। रावण राम

पर भारी पड़ रहा है। निराला ने लिखा है— “रावण-प्रहार
दुर्वार विकल वानर दल-बल उद्धत लंकापति मर्दित कपि-
दल बल बिस्तर।लोहित लोचन रावण मदमोचन
महीयान।” यहाँ रावण उत्साह के साथ लड़ रहा है, पर
इसके साथ-साथ क्रोध का भाव भी जुड़ा हुआ है। ‘लोहित
लोचन’ से उसके क्रोध का शारीरिक संवेग प्रकट हो रहा
है। पर शुक्ल जी का ध्यान इस ओर नहीं गया। उनके द्वारा
किया गया ऐसा परिभाषांकन उनमें वस्तुनिष्ठ चिंतन-विश्लेषण
के अभाव और आत्मनिष्ठ, मननहीन चिंतन-विश्लेषण की
स्थिति को ही ज्ञापित करता है।

यदि उत्साह में समाहित विभिन्न अर्थ-परमाणुओं
(Atoms of meaning) का विखंडन करें, उसके
अवयवभूत अर्थ (Contituent meaning) को विश्लेषित-
उद्घाटित करें, तो उसका स्वरूप निम्नांकित होगा—

उत्साह =

मन की उच्चता

- | | |
|----------------------------|------------------|
| +साहस | -संशय |
| +आत्मविश्वास | -दुश्चिन्ता |
| | -अनिश्चय/अनिर्णय |
| +उमंग/जोश | -भय |
| +संकल्पनिष्ठता/सचेष्टता | |
| +सफलेच्छा/विजयाकांक्षा | |
| +कर्मान्मुखता/कर्मसंलग्नता | |
| +प्रबल युयुत्सा | |
| +क्रुद्धता | |
| +हिंम्रता | |
| +वीरता | |

‘उत्साह’ वीरता का स्थायी भाव है। शुक्ल जी ने
इसका विवेचन मुख्य रूप में वीरता के संदर्भ में ही किया
है। अतः इस संदर्भ में इसके अर्थ के उपर्युक्त वस्तुनिष्ठ
विश्लेषण में कहीं भी आनंद की स्थिति नहीं बनती है।
‘आनंद’ ‘उत्साह’ का सहवर्ती भाव नहीं है। वह परवर्ती
भाव है। वह युद्ध में सफल होने, विजय की प्राप्ति करने
से जुड़ा हुआ है। उत्साह जैसे युद्ध के लिए प्रस्थान करते
समय उत्पन्न होता है, वैसे ही वह युद्ध करते समय भी
बना रहता है। इसीलिए वह स्थायी भाव है। आनंद एक

प्रकार का स्थिर भाव है, वह कर्ममय भाव नहीं है। अतः
उपर्युक्त दोनों ही स्थितियों में उस जैसे निष्क्रिय भाव का
कोई औचित्य नहीं है। उत्साह गत्यात्मक है और वीरता भी
गत्यात्मक है। शिवाजी जब अफजल खाँ से मिलने के
लिए चले थे तब वह साहस, आत्मविश्वास, मन की
उच्चता, उमंग, संकल्पनिष्ठता और विजयाकांक्षा-मिश्रित
उत्साह से भरे हुए थे, आनंद से नहीं। तभी उन्होंने अपनी
माँ से कहा था, “मैं उस बकरे का सिर काट कर ले
आऊँगा।” अतः शुक्ल जी द्वारा उत्साह की- की गयी
पूर्वोक्त परिभाषा आनंद के समावेश के कारण त्रुटिपूर्ण
और असमीचीन सिद्ध होती है। शुक्ल जी ने ‘मन की
उच्चता’ जैसी स्थिति पर ध्यान नहीं दिया। यह स्थिति
आत्मविश्वास से बनती है। इसी के कारण साहस उत्पन्न
होता है। यह मनःस्थिति आनंद से सर्वथा विलग होती है।

शुक्ल जी ने दानवीर के संदर्भ में उत्साह का विवेचन
ठीक से पूर्व वीरता के भेद का उल्लेख किया है— “साहित्य-
मीमांसकों ने इसी दृष्टि से युद्धवीर, दानवीर, दयावीर
इत्यादि भेद किये हैं। इनमें सबसे प्राचीन और प्रधान
युद्धवीरता है, जिसमें आघात, पीड़ा, क्या मृत्यु तक की
परवा नहीं रहती। इस प्रकार की वीरता का प्रयोजन अत्यन्त
प्राचीन काल से पड़ता चला आ रहा है, जिसमें साहस और
प्रयत्न दोनों चरम उत्कर्ष पर पहुँचते हैं।” इसके तुरंत बाद
वे पुनः युद्ध-वीरता के संदर्भ में उत्साह की स्वरूप-
स्थिति को स्पष्ट करते हुए बताते हैं—....“साहस और
धीरता को उत्साह के अन्तर्गत तभी ले सकते हैं जबकि
साहसी या धीर उस काम को आनंद के साथ करता चला
जाएगा, जिसके कारण उसे इतने प्रहार सहने पड़ते हैं।
सारांश यह कि आनंदपूर्ण प्रयत्न या उसकी उत्कण्ठा में ही
उत्साह का दर्शन होता है, केवल कष्ट सहने के निश्चेष्ट
साहस में नहीं।” यहाँ शुक्ल जी द्वारा युद्धवीरता के किये
गये निरूपण में असंतुलन दीखता है। वह यहाँ केवल प्राप्त
होने वाले आघात, पीड़ा और मृत्यु की चर्चा करते हैं और
वीरों को इसकी परवाह नहीं होगी, इसको रेखांकित करते
हैं। पर वह यह नहीं बताते कि युद्धवीर उत्साहपूर्वक अस्त्र-
शस्त्र का प्रहार करता, प्रतिपक्षियों को आहत करता, उन्हें
पीड़ा पहुँचाता और उन्हें मौत के घाट उतारता है। आघात

सहना, पीड़ा और मृत्यु प्राप्त करना उत्साहपूर्वक लड़े गये/ लड़े जाने वाले युद्ध-प्रक्रिया का परिणाम हो सकता है। इसमें उत्साह के पूर्ण दर्शन नहीं होते, क्योंकि उत्साह युद्ध-व्यापार में दर्शनीय होता है, ऐसे ऋणात्मक (-) परिणामों में नहीं। आखिर शुक्ल जी की दृष्टि या चिन्तना यहाँ धनात्मक (+) क्यों नहीं है? उत्साहवर्धन करने वाले संदर्भ ही उत्साह-विवेचन के क्रम में क्यों गायब हैं और प्राप्त होने वाली मृत्यु का ही एकमात्र उल्लेख क्यों है? क्यों जिसकी परवाह होनी चाहिए, उसका उल्लेख नहीं है, और क्यों बिना उसके उल्लेख के जिसकी परवाह नहीं होनी चाहिए, उसका उल्लेख है? इसके बाद पुनः वे आनंद को ले आते हैं। उनके अनुसार साहसी या धीर प्रहार सहते हुए भी अब युद्धकर्म को आनंद के साथ संपन्न करता चला जाएगा तभी वहाँ उत्साह की स्थिति होगी। पर शुक्ल जी के बोध में 'मन की उच्चता' और 'आनंद' की स्थिति का पार्थक्य या अंतर स्पष्ट नहीं हो पाता है। लड़ाका अपनी पीड़ा से उन्मन नहीं होता, वह प्रमन बना रहता है, अपने 'मन की उच्चता' को बनाये युद्ध में संलग्न रहता है, पर आनंद की अनुभूति वहाँ नहीं होती। आनंद एक स्थिर अनुभूति है और वह फल-प्राप्ति से ही संभव है। आनंद का प्रकटन स्थिर नहीं है। वह अनेक रूपों में संभव है। पर शुक्ल जी यहाँ उसके भावन की ही बात करते हैं।

शुक्ल जी ने उत्साह के बाधक तत्त्वों पर कहीं भी विचार नहीं किया है। 'उत्साह' के अनेक बाधक तत्त्व भी हैं, जिनका निरूपण किया जाना चाहिए था। युद्ध कर्म में 'आनंद' की अनुभूति होना या करना उत्साह का साधक तत्त्व नहीं बन कर बाधक तत्त्व के रूप में उपस्थित होता है। आनंद के अनुभव में कुछ भी प्राप्तव्य शेष नहीं रहता। जब गंतव्य पूरा हो जाता है, प्राप्तव्य मिल जाता है, तभी आनंद की स्थिति होती है। ऐसे में भला लड़ता हुआ साहसी अपने 'मन की उच्चता' को बनाये रखेगा, 'आत्मविश्वास' से भरा रहेगा, अपनी तत्पर सक्रियता दिखाता रहेगा या आनंद का अनुभव करेगा? यदि शुक्ल जी 'मन की उच्चता' के पर्याय रूप में इस 'आनंद' का प्रयोग कर रहे हैं, तो उन्हें 'पर्याय' - चयन में आचार्य वामन की 'पाक' - सिद्धि प्राप्त नहीं हो पायी है और इस

दृष्टि से भी यह असमीचीनता का ही दृष्टांत है।

'उत्साह' के विवेचन के संदर्भ में इस 'आनंद' ने उन्हें बाँध रखा है और वह स्वयं भी इसे लिखते हुए 'उत्साहित' कम और 'आनंदित' अधिक हैं। 'दानवीरता के संदर्भ में भी 'आनंद' उनकी दृष्टि में अनिवार्य है। उनके अनुसार "दानवीर में अर्थत्याग का साहस अर्थात् उसके कारण होने वाले कष्ट या कठिनता को सहन करने की क्षमता अन्तर्हित रहती है। दानवीरता तभी कही जाएगी जब दान के कारण दानी को अपने जीवन-निर्वाह में किसी प्रकार का कष्ट या कठिनता दिखाई देगी। इस कष्ट या कठिनता की मात्रा या संभावना जितनी अधिक होगी, दानवीरता उतनी ही ऊँची समझी जाएगी। पर इस अर्थत्याग के साहस के साथ ही जब तक पूर्ण तत्परता और आनंद के चिह्न न दिखाई पड़ेंगे तब तक उत्साह का स्वरूप न खड़ा होगा।" यहाँ देखने की बात यह है कि 'दान' की दो कोटियाँ हैं- १. स्वैच्छिक दान और २. याचनानुरूप दान। पहली कोटि का दान स्वैच्छिक होता है। इसमें अपनी इच्छा से अभावग्रस्तों, अकिंचनों को दान किया जाता है। विरल रूप में कभी-कभी कोई-कोई इसमें स्वेच्छया तत्परतापूर्वक अपना सर्वस्व तक दान कर देता है। शुक्ल जी के अनुसार यह सर्वस्व दानी तो दानवीर की कोटि में आ जाता है, क्योंकि वह सज्जन तौर पर आगे अपने जीवन में आने वाले कष्ट और कठनाई को सहने के लिए तैयार है। पर शुक्ल जी इस संदर्भ में यहाँ 'आनंद' के चिह्न देखना चाहते हैं। मेरी दृष्टि में दानी यह दान अपने मन की उच्च स्थिति में, बिना किसी प्रकार की चिन्ता और फिक्र के संकल्पनिष्ठ रूप में कर रहा है। पर यहाँ जो चीज उसकी मनःस्थिति में देखने की है वह 'आनंद' से भी बड़ी चीज है। वह है उसकी 'निरभिमानता'। दान करते समय दानी को किसी भी प्रकार का रंचमात्र भी अभिमान नहीं होना चाहिए। यह 'आनंद' की अपेक्षा से कहीं बड़ी और महत्वपूर्ण अपेक्षा है। यह अनिवार्य है। बिना निरभिमानता के कोई भी दानी दानवीर नहीं हो सकता। यहाँ 'उत्साह' की समीचीन स्थिति भी निरभिमानता से युक्त होकर ही उपस्थित होती है, आनंद से युक्त होकर नहीं। 'आनंद', 'उत्साह' की परवर्ती अनुभूति है। दूसरे शब्दों में दानकर्ता में 'दान' करने का

कर्तृत्वभाव, अहंभाव नहीं होना चाहिए। यह भाव ही अभिमान उत्पन्न करता है। यदि शुक्ल जी दानवीरता के संदर्भ में 'निरभिमानता' के महत्त्व को दर्शा पाते और उसे 'उत्साह' से जोड़ पाते, तो उनकी स्थापना समीचीन सिद्ध हो सकती थी। याचक की मुँहमाँगी, अप्रत्याशित याचना को अभिमान-रहित उत्साह से स्वीकार करते हुए उसे उसकी माँगी वस्तु का दान करना दूसरी कोटि का दान है। कर्ण के द्वारा शरीरस्थ कवच-कुण्डल का दान करना, राजा शिवि के द्वारा शरीर के मांस का दान करते-करते आत्मदान कर देना तथा दधीचि के द्वारा वज्र के निर्माण के लिए अपनी सारी हड्डी का दान कर मृत्यु का वरण कर लेना इसी कोटि का दान है। इन सबमें दाता के कर्तृत्वबोधविहीन उत्साह की सक्रिय स्थिति प्राप्त होती है।

'उत्साह' के विवेचन-क्रम में भी शुक्ल जी परस्पर अन्तर्विरोधी अभिव्यक्ति करने से अपने-आपको बचा नहीं सके हैं। उनकी दो मान्यताओं को क्रमशः देखें- १. "थोड़ा यह भी देखना चाहिए कि उत्साह में ध्यान किस पर रहता है। कर्म पर, उसके फल पर अथवा व्यक्ति या वस्तु पर? हमारे विचार में उत्साही वीर का ध्यान आदि से अंत तक पूरी-कर्म श्रृंखला पर से होता हुआ उसकी सफलता-रूपी समाप्ति तक फैला रहता है।" पर यह विचार समीचीन नहीं है। 'उत्साह' में ध्यान को कर्मरूपी लक्ष्य पर केन्द्रित रखना चाहिए। ठीक अर्जुन के लक्ष्यवेध की तरह चिड़िया की आँख की पुतली पर केन्द्रित। तभी सिद्धि मिलती है और वीरता फलित होती है। यदि समाप्ति सफलता-रूप नहीं हुई और विफलता हाथ लगी तो क्या होगा? उत्साह में ध्यान का केन्द्रण अपेक्षित है, उसका फैलाव नहीं। २. ... "हम कह सकते हैं कि कर्मभावना-प्रधान उत्साह ही सच्चा उत्साह है। फलभावना-प्रधान उत्साह तो लोभ का ही एक प्रच्छन्न रूप है।" कहना न होगा कि अपनी एक मान्यता में शुक्ल जी उत्साह में ध्यान को फलप्राप्ति तक ले जाते हैं, पर अपनी दूसरी मान्यता में वह उसे कर्म तक केन्द्रित कर देते हैं। यहाँ अंतर्विरोध उनकी ध्यान शिथिल और ध्यान-केन्द्रित अभिव्यक्तियों के कारण उत्पन्न होता है।

लगभग 'उत्साह' में अपने विवेचन के उपान्त तक

आते-आते शुक्ल जी पुनः एक सूत्र-वाक्य में अपनी मौलिक स्थापना करते हैं- "कर्म में आनन्द अनुभव करने वालों ही का नाम कर्मण्य है।" पर उनकी यह परिभाषात्मक स्थापना असंगत व्यापकत्व दोष से भरी है। इसमें छिद्र (Loop hole) विद्यमान हैं। यदि कर्म में आनन्द प्राप्त करने वाला व्यक्ति प्रत्येक दिन एक ही काम करता और शेष समय में उसका आनन्दानुभव करता रहता आराम फरमाता रहता है, तो उसे कर्मण्य कैसे कहा जाएगा? वस्तुतः कर्मण्य के लिए आनन्द की स्थिति अनिवार्य नहीं है अपितु यह असंगत है। कर्मण्य की दोषमुक्त परिभाषा कुछ इस तरह की जा सकती है- "निरंतर अपने कर्म में (उत्साहपूर्वक) तल्लीन रहने वाला व्यक्ति ही कर्मण्य कहला सकता है।"

शुक्ल जी 'उत्साह' नामक निबंध में कई मनोवृत्तियों के साथ 'आनन्द' का अनपेक्षित घालमेल करते हैं, जो न तो वैज्ञानिक है और न ही मनोवैज्ञानिक। उनके एक उदाहरण पर विचार करें- "किसी मनुष्य के घर का कोई प्राणी बीमार है। वह वैद्यों के यहाँ से जब-जब औषधि ला-लाकर रोगी को देता जाता है और इधर-उधर दौड़-धूप करता जाता है तब तक उसके चित्त में जो संतोष रहता है-प्रत्येक नये उपचार के साथ जो आनन्द का उन्मेष होता रहता है- यह उसे कदापि न प्राप्त होता, यदि वह रोता हुआ बैठा रहता।" पर क्या वास्तविकता ऐसी है? नये-नये उपचार करने की प्रक्रिया में जो मनोवृत्ति उपचारकर्ता की होती है, वह चिंता की, आशा की और संतोष-परितोष की होती है। चिंता रोगी की स्थिति की, आशा इस बात की कि रोगी नीरोग हो जाएगा और संतोष इसलिए कि वह चुपचाप नहीं बैठा है, अपितु रोगी का समुचित उपचार कर रहा है, अपनी ओर से रोगी का पूरा ध्यान दे रहा है। एक-के-बाद एक प्रत्येक नये उपचार के साथ-साथ आशा उदित होती रहेगी और उसे करने-कराने का परितोष भी होता रहेगा। पर इस उपचार-प्रक्रिया में उपचारकर्ता के चित्त में भला आनन्द का उन्मेष किस तरह हो पाएगा? यह भुक्तभोगी के लिए उसकी मानसिकता और समझ से बाहर है। सांसारिक दृष्टि से यहाँ आनन्द की स्थिति प्रक्रियात्मक नहीं, कर्माधारित नहीं, अपितु फलाधारित होगी,

रोगी के नीरोग और स्वस्थ हो जाने पर होगी। यदि वह उपचार करने की प्रक्रिया में आनंद का अनुभव करेगा तो क्या उसे रोगी के साथ उसकी समानुभूति और सहानुभूति हो सकेगी अथवा यहाँ शुक्ल जी का प्रिय साधारणीकरण ही हो पाएगा ? मैं नहीं कह सकता कि शुक्ल जी अपने इस निबंध में 'आनंद' शब्द की जो बार-बार आवृत्ति कर रहे हैं, उत्साह की जगह उसे ही पूरे निबंध का प्रतिपाद्य शब्द (Theme Word) बना दे रहे हैं, उससे वह स्वयं कौन-सा अर्थ ग्रहण कर रहे हैं और कौन-सा अर्थ संप्रेषित कर रहे हैं ? क्या यह प्रसन्नता या सुख का अर्थ-दायक है ? तो आनंद सुखद परिस्थितियों में होने वाली ऐसी अनुभूति होगी, जिसमें किसी प्रकार की चिंता, अभाव और कष्ट नहीं होगा। पर रोगी का उपचारकर्त्ता चिंतामुक्त नहीं हो सकता। अभाव का भी कई दृष्टियों से उसे सामना करना पड़ सकता है। दौड़-धूप के लिए वाहन का अभाव और संसाधन सुलभ नहीं रहने पर अर्थ का अभाव। कष्ट तो वह कुछ देर के लिए भूल जा सकता है, पर इस बीच उसे प्रसन्नता या सुखानुभव भला क्योंकि होगा ? अब ऐसी स्थापना को असमीचीन और असंगत न कहें, तो क्या कहें ?

उत्साह मन की उच्चता में तत्परता के साथ आत्मविश्वासपूर्वक कर्म से संलग्न करने वाला भाव है। जब यह कर्म-प्रक्रिया में आद्यंत विद्यमान रहता है तभी लक्ष्य की प्राप्ति हो पाती है। उत्साह का भाव कर्म की प्रेरणा देता है, कर्म में प्रवृत्त करता है और कर्म को संपन्नता प्रदान करता है। उत्साह लक्ष्य को पहचान कर लक्ष्य-सिद्धि के लिए निरंतरता में कर्म-केन्द्रित होने वाला भाव है। जब किसी बाधक तत्त्व के कारण इसका लोप होने लगता है तब कर्म-केन्द्रण नहीं रह पाता है। इस तरह उत्साह का सीधा संबंध कर्म-व्यापार से जुड़ता है, कर्म के फलागम से नहीं। कर्म का सुफल कभी परीक्षा के उत्तमोत्तम परिणाम के रूप में प्राप्त होता है, कभी निश्चित वृत्तिगत नियुक्ति के रूप में और कभी यश, सम्मान और पुरस्कार के रूप में। कर्मकर्त्ता अपने-अपने परिणाम को भी उत्साह से भरा रह कर ही ग्रहण करता है। इस तरह यहाँ उत्साह की स्थिति प्राप्तव्य-रूपी फल को हर्षपूर्वक ग्रहण करने में

भी दीखती है। मेरी दृष्टि में जब शुक्ल जी कहते हैं कि 'उत्साह वास्तव में कर्म और फल की मिली-जुली अनुभूति है'। तब उसे इस रूप में देखना और लेना चाहिए कि जिस तरह उत्साह की विद्यमानता कर्म-प्रेरणा, कर्म-संलग्नता और कर्म-संपन्नता में होती है, उसी तरह उसकी विद्यमानता परीक्षा में प्रथम आने, कहीं नियुक्ति प्राप्त करने और पुरस्कार-सम्मान आदि मिलने के सुपरिणाम के समय भी रहती है। पर यह कहना कि "कर्म श्रृंखला की पहली कड़ी पकड़ते ही फल के आनंद की भी कुछ अनुभूति होने लगती है", उचित नहीं है, क्योंकि ऐसी अनुभूति कर्म को शिथिल करती है और न ही यह कर्म और फल की एक साथ मिली-जुली अनुभूति है। कर्म में क्रियात्मक भाव होता है, पर फल में भोक्ता भाव होता है। क्रियात्मकता की प्रक्रिया में भोक्ता भाव की अनुभूति बाधक तत्त्व बन जाती है, वह साधक तत्त्व के रूप में नहीं रह पाती। शुक्ल जी फल का प्रलोभन उपस्थित करके कर्म-संलग्नता की बात करते हैं। पर लक्ष्य के प्रति संकल्पनिष्ठता की स्थिति में उसके बोध को बनाये रखने की स्थिति में फल-प्राप्ति के भोग की मिली-जुली स्थिति न तो उचित है और न ही समीचीन। एक योद्धा यदि रणक्षेत्र में बार-बार यह अनुभव करने लगे कि मैं जीत गया, मैं जीत गया, तो वह शत्रु के प्रहारों और चालों का सामना कैसे कर पाएगा ? यहाँ मिली-जुली अनुभूति युयुत्सा की कर्म-संलग्नता और अपनी चाल चलने की सक्रिय मानसिकता से विचलित रूप में उपस्थित होती है, जो योद्धा के रण-कौशल और उसकी विजयिता के लिए उचित नहीं है। यह एक प्रकार की दिवास्वप्निल की स्थिति है। यह चल रहे यथार्थ के साथ वायवीय कल्पना का घालमेल है। शुक्ल जी की गीता में श्रीकृष्ण के द्वारा अर्जुन को वह दिया गया संदेश के आगे चलकर स्मरण तो आता है, पर उसका सम्यक् अर्थग्रहण न वह स्वयं करते हैं और न अपने इस निबंध के पाठकों को कराना चाहते हैं। वह उसे अन्यथा रूप में (In Distorted sense) प्रस्तुत करते हैं। गीता कहती है कि कर्मण्य का कर्म पर ही अधिकार है, कभी और किसी भी रूप में फल पर नहीं। ऐसे में कर्म-संलग्नता वाले उत्साह में फलानुभव कराना शुक्ल जी की उत्साह-विषयक स्थापना

को शिथिलीकृत और असंगत कर देता है।

उत्साह जैसे मनोभाव का गंभीर विवेचन करने के पश्चात् शुक्ल जी उसे लोक-संदर्भ से जोड़कर दृष्टांतीकृत करते हैं। धर्म से, धार्मिक उच्च कर्मों से वह कर्म-प्रक्रिया में ही आनंद की स्थिति को निरूपित कर देते हैं तथा सिद्ध करते हैं कि यहाँ आनंद फल-प्राप्ति के लिए रुका नहीं रहता। उनकी दृष्टि में कर्म-प्रक्रिया में उत्साह अन्तर्व्याप्त रहता है, पर इसका उन्होंने कोई शाब्दिक उल्लेख नहीं किया है। यहाँ शुक्ल जी का प्रतिपादन यथार्थगत नहीं, एक प्रकार का आदर्श प्रतिपादन है, जिसमें केवल कर्मगत आनंद की स्थिति या उत्साह की अन्तर्व्याप्ति-मात्र नहीं है, अपितु धार्मिक निष्ठा और पारलौकिक पुण्य-प्राप्ति का भाव निहित है, जिस ओर शुक्ल जी का ध्यान नहीं जा पाया है।

लोक के संदर्भ में वह उत्साह को लाभ की स्थिति से जोड़ देते हैं। किसी व्यक्ति को बहुत सारा लाभ होने या बड़ी इच्छा-पूर्ति होने पर वह सामने आने वाले अन्यान्य कामों को भी तत्पर होकर हर्ष के साथ करने लगता है। इसे भी लोग उत्साह ही कहते हैं। शुक्ल जी आनंद के संदर्भान्तरण, फलस्वरूप उत्साह के संदर्भान्तरण की बात करते हैं। कभी-कभी एक विषय से उत्पन्न आनंद अपनी स्फूर्ति के कारण बहुत से अन्य कामों की ओर उन्मुख हो जाता है। यह एक प्रकार से यहाँ उत्साह का ही उन्मुखीकरण है। किसी एक लाभोन्मुख उद्योग में उत्साह के साथ जुड़ा व्यक्ति अन्य कामों में भी उत्साह के साथ जुड़ जाता है। इस तरह उन्होंने जन-साधारण में उत्साह की स्थिति लाभ और फलप्रदता से जुड़ी हुई निर्दिष्ट की है। इसी तरह शुक्ल जी उत्साह को व्यक्ति के निजी 'मूड' तक से जोड़ देते हैं। वे उसके उत्साहित चित्त की बात करते

हैं। एक संदर्भ में उत्साहित चित्त अन्य संदर्भों में भी उत्साह दिखा देता है। यहाँ शुक्ल जी की उत्साह को उसके अपने संदर्भ से बाहर लाकर उसका अर्थ-विस्तार कर देते हैं और लोक-व्यवहारगत अर्थ से उसका अभिषेक तक कर देते हैं।

इस निबंध का आरंभ लेखक ने जहाँ गंभीरतापूर्वक वस्तुनिष्ठ विवेचन से किया है, वहीं इसके अंत तक यह शुक्लीय गंभीरता और वस्तुनिष्ठता विद्यमान नहीं रह पायी है। इसका अंत अत्यंत सामान्य और आत्मनिष्ठ जैसा हो गया है। यहाँ उदाहरण अधिक हैं और सूत्रीकृत स्थापनाओं का प्रायः अभाव है।

कुल मिलाकर मेरी दृष्टि में युद्ध-वीरता के संदर्भ में उत्साह आनंद से अभिषिक्त नहीं होकर फ्रायड के द्वारा निरूपित जीवन-वृत्ति (Eros) और मरण-मारण वृत्ति (Thanatos) में मरण-मारण वृत्ति से उन्मथित है। हाँ, यहाँ जीवन-वृत्ति की भी सहयोगी भूमिका है। ऊपर विवेचित शुक्ल जी के सैद्धांतिक और एक व्यावहारिक निबंध पर विमर्श करते हुए यह कहना उचित प्रतीत होता है कि शुक्ल जी की स्थापनाओं और मान्यताओं को हिंदी आलोचना में जो आँख मूँद कर युक्तियुक्त और प्रामाणिक मान लेने की प्रवृत्ति है वह उचित नहीं है। शुक्ल जी के प्रति हिंदी आलोचना में वीरपूजा का भाव बनाये रखकर भी उनकी श्रेष्ठता और महत्त्वपूर्णता के बावजूद उनमें चिंतनात्मक असमीचीनता भी है, जिसे ऊपर सोदाहरण विवेचित किया जा चुका है। इसे स्वीकार किया जाना चाहिए। आज उनके लेखन को गतानुगतिक प्रशंसात्मक ढंग से नहीं पढ़ कर उन पर चिंतनात्मक दृष्टि से विचार किये जाने की अपेक्षा है, जिससे हिंदी आलोचना का चिंतनात्मक विकास हो सके।

संपर्क:

‘साई-कृपा’, 58 लाल एवेन्यू, पो. रेआन एण्ड सिल्क मिल्क,
अमृतसर- 143005, मो. 09878647468

मैथिली और हिंदी :

नागार्जुन और डॉ. रामखिलाश शर्मा की छंद-दृष्टि

मीना कुमारी

का.हि.विश्वविद्यालय, वाराणसी

‘भाषा मानव जीवन की अनिवार्य सामाजिक वस्तु और व्यावहारिक चेतना है जिसके सौन्दर्यपरक और प्रयोजनपरक- दो मुख्य आयाम और प्रकार्य हैं। व्यक्ति की सौन्दर्यपरक अनुभूतियों के आलम्बन रूप में भाषा आत्मकेन्द्रित और सर्जनात्मक होती है। किसी समाज की निजी शक्ति की परख उसकी भाषाई क्षमता और संस्कृति से होती है। मनुष्य समाज के क्रियाकलापों के समुच्चय को आत्मसात कर अपनी चिंतनशक्ति से जीवन के जिन रचनापरक उदात्त विचारों को समाज के लिए मानक रूप में प्रस्तुत करता है, वे ही धीरे-धीरे संकलित होकर उसकी संस्कृति का सृजन करते हैं। इस प्रकार संस्कृति लोगों के अर्जित आचार-विचारों की एक व्यवस्था होती है। इन्हीं आचार-विचारों को सुरक्षित रखने और प्रकट करने का काम भाषा करती है। भाषा वाणीगत संकेतों की स्वैच्छिक पद्धति है जिसके माध्यम से मनुष्य अपनी मनुष्यता को सार्थक करता है, अपनी संस्कृति को समझता है और पुनः क्रिया-प्रतिक्रिया एवं विचारों का सम्प्रेषण करता है। भाषा मानसिक व्यापारों, मनोभावों और मनोवेगों की अभिव्यक्ति का सर्वोत्तम साधन है। संस्कृति के विकास और परिवर्तन के साथ भाषा भी विकसित और प्रतिबिम्बित होते हैं। चिंतन-प्रक्रिया से प्रत्यक्ष संबंधित होने के कारण भाषा चिंतन के परिणामों और ज्ञानात्मक सक्रियता की उपलब्धियों को एकत्र करती है, उन्हें शाब्दिक आधार प्रदान करती है, शब्दों को वाक्यों में पिरोती है, संवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक संवेदनों को अभिव्यक्ति की गरिमा प्रदान करती है।’^१ अपनी भाषा, संस्कृति एवं समाज के प्रति इसी लगाव और सचेतनता ने नागार्जुन को प्रखर आलोचक रामविलास शर्मा के उन आरोपों का तार्किक एवं तीखा जवाब देने को बाध्य किया जिसमें उन्होंने मैथिली भाषा को हिंदी के बरक्स हर तरह कमतर कर प्रस्तुत करने का कार्य किया। हालांकि, अपने साक्षात्कारों और समय-समय पर दिए गए वक्तव्यों में उन्होंने हिंदी भाषा को सदैव सर्वोपरी माना किंतु, अपनी मातृभाषा पर हुए हमले को भी वह कतई चुपचाप सहने को तैयार न थे। उन्होंने महत्ता, सीमा-विस्तार अभिव्यक्तिगत-सामर्थ्य एवं व्याकरणिक-संरचना के आधार पर मैथिली को न केवल हिंदी से अलग करने की कोशिश की वरन् उसे एक स्वतंत्र भाषा के रूप में स्वीकारे जाने की भी वकालत की। और संभव है कि मैथिली को संविधान की आठवीं अनुसूची में शामिल किए जाने के पीछे इनके भी प्रयास एवं तर्कों का अप्रत्यक्ष योगदान हो।

नागार्जुन ने चार भाषाओं में काव्य-सर्जना की है- संस्कृत, हिंदी, मैथिली एवं बाङ्ला। वे जब काव्य-रचना में प्रवृत्त हुए, उस समय मैथिली भाषा को वह महत्त्व एवं मान नहीं प्राप्त था जिसकी वह अधिकारिणी है। किंतु, यह उनके कवित्व का ही चमत्कार है कि हिंदी की बिहारी उपभाषा की एक बोली मात्र मानी जाने वाली मैथिली ने ही उन्हें साहित्य-अकादेमी पुरस्कार दिलवाया। बोली एवं भाषा के संबंध में अक्सर यह प्रश्न उठाया जाता है कि किसे बोली माना जाए और किसे भाषा। यह प्रश्न यहाँ इसलिए भी प्रासंगिक है क्योंकि नागार्जुन के समय में मैथिली बोली ही मानी जाती थी। भाषा और बोली के संबंध में यह तथ्य उल्लेखनीय है कि भाषा-वैज्ञानिक दृष्टिकोण से इनमें विभेद प्रदर्शित करना कठिन है क्योंकि यह

भाषा एवं बोली के भेद को स्वीकृत नहीं करता। यह विषय 'भाषा विज्ञान' का नहीं अपितु, समाज 'भाषा-विज्ञान' का है क्योंकि बोली और भाषा में भेद सामाजिक, राजनीतिक, भौगोलिक एवं बोलने वालों की संख्या पर निर्भर करता है। किसी क्षेत्र-विशेष के किसी सामाजिक वर्ग की 'बोली' उपर्युक्त कारणों से प्रतिष्ठा प्राप्त कर 'मानक' रूप में स्वीकृत हो जाती है। इस मानक बोली में किन्हीं अन्य बोलियों की अपेक्षा भाषा का वैविध्य कम मिलता है। वस्तुतः बोली के मानक रूप बनने की प्रक्रिया में ही भाषा में विकल्पन की प्रवृत्ति कम होने लगती है। कालांतर में यही वैधानिक एवं सामाजिक मान्यता प्राप्त बोली भाषा का दर्जा पा लेती है। उदाहरणस्वरूप खड़ी बोली हिंदी की उपभाषाओं को पहाड़ी, राजस्थानी, पूर्वी हिंदी, पश्चिमी हिंदी एवं बिहारी हिंदी के रूप में विभक्त किया जाता है और इस वर्ग के अन्तर्गत आने वाली भाषाओं को बोली की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। किंतु, सच्चाई तो यह है कि खड़ी बोली हिंदी एवं इन उपवर्गों की बोलियों में संरचनागत एवं व्याकरणिक आधार पर भाषा-बोली में भेद करना संभव नहीं है। इन बोलियों में भाषिक प्रतीकों की संरचनात्मक व्यवस्था हिंदी की तरह ही प्राप्त होती है। कारण, "भाषाएँ अतीत के लंबे अंतराल में विकसित होती हैं। इस लंबे अंतराल में गोत्र भाषाओं से जातीय भाषाएँ, जातीय भाषाओं से राष्ट्रीयता की भाषाएँ और फिर राष्ट्रभाषा का अनुवर्ती क्रम चलता है।"^१ खड़ी बोली हिंदी भी, जैसा कि नाम से ही द्योतित है, भारत में पहले केवल एक बोली के रूप में ही मान्य थी किंतु कालांतर में अपने प्रकाय, प्रयोजन, समाज, व्यवसाय एवं राजनीति में अपने दखल के कारण बोली 'भाषा' का अभिधान ग्रहण कर 'राष्ट्रभाषा', 'राजभाषा' एवं 'संपर्क भाषा' के रूप में अपने स्वरूप का व्यापक प्रसार कर रही है। 'मैथिली' भाषा भी पहले खड़ी बोली हिंदी की उपभाषा 'बिहारी हिंदी' की एक बोली के रूप में ही पहचानी जाती थी किंतु, अपनी भाषिक-साहित्यिक समृद्धि, राजनीतिक और कुछ अन्य बाह्य कारकों के कारण वह भारतीय संविधान की आठवीं अनुसूची में भाषा का स्थान ग्रहण कर चुकी है। यह तो बोली के भाषा में परिवर्तित होने के उदाहरण हैं। लेकिन, भाषाओं का

इतिहास इस तथ्य को पुष्ट करता है कि जो बोली अपनी प्रयोजनीयता और महत्त्व के कारण कभी भाषा के पद पर प्रतिष्ठित थी वह कालांतर में ऐतिहासिक-प्रक्रिया के फलस्वरूप बोली के पद पर अपदस्थ भी हो जाती है। 'ब्रज' भाषा इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। भले ही मैथिली पहले लोकभाषा रही हो, और अब ब्रजभाषा लोकभाषा का रूप अख्तियार कर चुकी हो, किंतु २०११ के जनगणना दस्तावेज के अनुसार तथ्यपरक सत्य यह है कि इन भाषाओं को मातृभाषा मानने वाली जनसंख्या खड़ी बोली हिंदी को अपनी मातृभाषा स्वीकार करने वाली जनसंख्या की तुलना में अधिक है।

विश्व की सभी शिक्षा-प्रणालियाँ मातृभाषा के महत्त्व को समवेत स्वर से स्वीकार करती हैं। प्रायोगिक भाषा-विज्ञान की शाखा 'भाषा-शिक्षण' भी इस तथ्य को स्वीकार करता है कि बच्चे अपनी मातृभाषा में ही क्षिप्रगति से सीखते-समझते या अधिग्रहण करते हैं। मैथिली नागार्जुन की मातृभाषा है। उन्होंने जैसी कविताएँ मैथिली में रची हैं, वैसी खुशबू और मार्दव से भीनी कविताएँ अन्य भाषाओं में कम ही हैं। अपनी मातृभाषा मैथिली से सहज लगाव के कारण ही डॉ. रामविलास शर्मा द्वारा 'पाटल' पत्रिका के जनवरी, १९५४ अंक में 'हिंदी और मैथिली' शीर्षक लेख की सद्यः प्रतिक्रिया में इसी शीर्षक से नागार्जुन ने लेख लिखा जो आर्यावर्त के फरवरी, १९५४ अंक में प्रकाशित हुआ। इन लेखों से महत्त्वपूर्ण अंश उद्धृत किए जा रहे हैं जिससे इन दोनों महानुभावों के हिंदी एवं मैथिली भाषा संबंधी दृष्टिकोण स्पष्ट हो सकें। ये उद्धरण यहाँ इसलिए भी प्रासंगिक हैं क्योंकि यह केवल हिंदी और मैथिली भर की बात नहीं है, वरन यह हिंदी की उपभाषाएँ और बोलियाँ मानी जाने वाली भाषाओं के महत्त्व और मान के लिए भी आवश्यक है।

डॉ. रामविलास शर्मा: १) जनपदीय आंदोलन के नाम पर उनका ध्यान (हिंदी-भाषियों) बोलियों के अलग-अलग इलाकों के स्वतंत्र अस्तित्व की तरफ खींचा गया है। ऐसी स्थिति में मैथिली स्वतंत्र भाषा है या बोली, या मैथिली का स्वतंत्र सूबा बने या उसे हिंदी प्रदेश का हिस्सा माना जाये, यह समस्या हमारे लिए खास तौर से विचारणीय है।^२

२) मैथिली का व्याकरण हिंदी व्याकरण से भिन्न है।

उसके शब्द भंडार में जहाँ बहुत से शब्द हिंदी से मिलते-जुलते हैं, वहाँ काफी शब्द हिंदी से भिन्न भी हैं। उसका अपना समृद्ध साहित्य है और मैथिली में अभी भी गद्य-पद्य का साहित्य रचा जा रहा है।... यहाँ एक ध्यान देने की बात है कि मैथिली और हिंदी की क्रियाएँ अधिकतर समान हैं। क्रियाओं की समानता का बहुत बड़ा कारण है। मैथिली के लिए अक्सर कहा जाता है कि वह बांग्ला के निकट है या कि वह हिंदी के लिए गैर हैं, मैथिली के लिए भी गैर हैं। इसलिए केवल धातु रूपों में कुछ समानता होने पर मैथिली हिंदी की अपेक्षा बांग्ला के अधिक निकट नहीं हो जाती।^{१४}

३) मैथिली का व्याकरण हिंदी के व्याकरण से भिन्न है; लेकिन इससे वह स्वतंत्र भाषा नहीं हो जाती।^{१५}

नागार्जुन : १) पाटल के जनवरी (१९५४) अंक में भाई रामविलास का एक लेख (इसी शीर्षक से) प्रकाशित हुआ है। मैथिली कोई भाषा नहीं बल्कि एक बोली मात्र है और हिंदी के महासमुद्र में विलीन हो जाने में ही उसका कल्याण है। समूचे लेख का यही तात्पर्य मैं समझ पाया हूँ... बंधुवर रामविलास की धारणा को मैं उलटबाँसी मानता हूँ। मैथिली कोई मामूली बोली नहीं है, वह एक प्राणवंत भाषा है। उसकी पाचन-शक्ति अद्भुत है। मगही के ९० प्रतिशत शब्दों को वह पचा गई, गोरखाली और संथाली के सैकड़ों शब्द अपनी सुविधा के अनुसार मैथिली ने ले लिए हैं। संस्कृत-प्राकृत-पालि-अपभ्रंश से, अरबी-फारसी-तुर्की से और अंग्रेजी से लिए हुए शब्दों की भारी तादाद हमारे यहाँ मौजूद है।^{१६}

२) मैथिली के क्रियापद और विभक्तियाँ हिंदी वाक्यों पर हावी हो जाती हैं। बावजूद सरकारी सहायता की बैसाखी के राष्ट्रभाषा हमारे यहाँ जनता की जीभ पर चढ़ नहीं पाती।^{१७}

३) मैथिली के किसी अधिवासी पर उसकी इच्छा के विरुद्ध हम मैथिली नहीं लादेंगे। डॉक्टर श्री जयकांत मिश्र के सीमा-विस्तार की अवांछनीय मनोवृत्ति का समर्थन हम नहीं कर सकते।^{१८}

४) हम यह नहीं कहते कि हिंदी और मैथिली के बीच उतनी दूरी है, जितनी कि हिंदी और तमिल के बीच। किंतु, ब्रजभाषा, अवधी, भोजपुरी और बुंदेलखंडी की अपेक्षा

हमारी मैथिली हिंदी से कहीं अधिक दूर पड़ती है।... हमारे क्रियापद अपने हैं। शब्द भंडार अपना है। प्रतिवेशी भाषाओं और बोलियों से हमारी भाषा का आदान-प्रदान चलता रहा है, आगे भी चलता रहेगा।... अभिव्यक्ति की सामर्थ्य के हिसाब से देखें तो आज की मैथिली बंगला से तिल-भर भी पीछे नहीं है; हिंदी से जौ-भर आगे है वह।^{१९}

५) जिस तरह विद्यापति के पदों को आप नहीं पचा सके, उसी तरह मैथिली के आधुनिक कवियों-कथाकारों को भी आप आत्मसात नहीं कर पायेंगे। अभिव्यक्ति की, वाक्य-विन्यास की, उच्चारण के क्रमों की, ध्वनियों और स्वर-संघातों की हमारी अपनी विशेषताएँ हैं। उन्हें न संस्कृत हजम कर सकी, न फारसी। अंग्रेजी के बूते का यह काम नहीं रहा। मैथिली को पचा लेने का सामर्थ्य हिंदी या भारत की किसी भी अन्य भाषा में नहीं है। कहते हैं, विश्व में समग्र संसार की एक ही भाषा होगी। हमारे इस महादेश की प्रादेशिक भाषाएँ अपना-अपना पृथक-पृथक अस्तित्व खो बैठेंगी और सुविकसित भारतीयों की वह विशाल बिरादरी एक ही भाषा बोलेगी, देश-विदेश और द्वीप-द्वीप की भाषाएँ एक हो जाएँगी और अखिल विश्व अभिव्यक्ति के लिए समान शब्दावलियों का सहारा लेगा। भाषा एक होगी, विचार एक होंगे, मानव-समुदाय एक होगा। तो क्या हम अपनी मैथिली, भोजपुरी, संथाली आदि भाषाओं एवं बोलियों को तिलांजलि दे दें, आज ही? और ऐसा करना क्या हमारे अपने वंश की बात है? असुविधाओं के कारण अपनी क्षमता का दशांश भी शायद मैथिली को नहीं दे पाता हूँ।^{२०}

६) मैथिली का व्याकरण हिंदी के व्याकरण से भिन्न है। उसकी अपनी बहुतेरी विशेषताएँ हैं। धातुओं के भूतकाल की विलक्षणता के तौर पर एक उदाहरण देखिए-

मारलि (मैंने उन (बड़े) को मारा)
मारलहुन (तुम या तूने उन (बड़े) को मारा)
मारलधिन (उन (बड़े) ने उस (छोटे) या उन (बड़े) को मारा)
मारलकइन (उस (छोटे) ने उन (बड़े) को मारा)
मारलथुन (उन (बड़े) ने तुम्हें या तुझे मारा)
मारलह (तुमने मुझे मारा)
मारलहक (तुमने उस (छोटे) या उन (बड़े) को मारा)
मारलएँ (तू (छोटे) ने उस (छोटे) को मारा)

मारलही (तू (छोटे) ने उस (छोटे) को मारा)

हिंदी में सिर्फ 'मारा' कहने से काम नहीं चलेगा। वहाँ 'मारा' के साथ हमें कर्ता और कर्म साफ शब्दों में रखना पड़ेगा। भारत के किस भाषा में इस प्रकार की विशेषता मौजूद है, भाषाविज्ञान के धुरंधर लोग यह बताने की कृपा करें। बिना कर्ता के और बिना कर्म के ही, बिना लिंग के और बिना वचन के ही मैथिली का क्रियापाद वाक्य-बोध करा देता है। यों भी हमारा मैथिली व्याकरण पुलिंग- 'स्त्रीलिंग या एकवचन, बहुवचन के झंझटों से काफी दूर पड़ता है। मानता हूँ विशेषताएँ थोड़ी-बहुत मात्रा में प्रत्येक भाषा और बोली में विद्यमान हैं। ऐसा न मानना पल्ले दर्जे की बेवकूफी होगी। हमारी पड़ोसी भाषा भोजपुरी की भी अपनी खूबियाँ हैं जो मैथिली या मगही में नहीं हैं। इसी तरह हिंदी की खूबियाँ हैं। बंगला, मराठी, तमिल, तेलुगु... सबकी अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं। हमें क्या अधिकार है कि हम किसी को दबाएँ या किसी की छाती पर चढ़ बैठें?''^{११} इस लेख की प्रतिक्रिया में नागार्जुन ने मैथिली के पक्ष में जो-जो मुद्दे उठाये हैं उससे यह पता चलता है कि मैथिली को अत्यन्त प्राणवन्त भाषा के रूप में प्रतिष्ठित करना ही उनका ध्येय है। अपनी इस प्रतिस्थापना को आधार देने के लिए उन्होंने मैथिली की पाचन-शक्ति को हिंदी तुलना में मजबूत और पुष्ट बताया है। उन्होंने आगत शब्दों की संख्या प्रतिशत गिनाने के बाद बिहार में मैथिली के बरक्स हिंदी की स्थिति को आँकड़े प्रस्तुत कर अपेक्षाकृत न्यून सिद्ध किया है।

नागार्जुन ने अपनी काव्य-रचना का आरंभ मैथिली एवं संस्कृत कविताओं से किया था किंतु, कालांतर में हिंदी के क्षेत्रीय विस्तार एवं कुछ आर्थिक प्रयोजनों के कारण उन्होंने अपनी लेखनी की दिशा हिंदी की ओर मोड़ दी। यद्यपि अपनी क्षमता का दर्शांश ही वह मैथिली को दे पाए लेकिन, मैथिली एवं मिथिला के प्रति उनकी अटूट श्रद्धा एवं आस्था हिंदी पर हावी हो उठती है। इसलिए वे अपने निबंध में थोड़ी तीखी प्रतिक्रिया देते हैं। वे डॉ. रामविलास शर्मा के लंबे निबंध से जो निष्कर्ष निकालते हैं वह यह कि 'मैथिली कोई भाषा नहीं, बल्कि एक बोली मात्र है और हिंदी के महासमुद्र में सर्वथा विलीन हो जाने में ही उसका कल्याण है।'^{१२}

नागार्जुन की उपर्युक्त स्थापनाएँ उनकी मैथिली-भक्ति की प्रमाण हैं। इसी क्रम में मैथिली क्रिया की धातुओं की संख्या की गणना तथा अपनी कविताओं के कुछ उद्धरण प्रस्तुत करते हुए वे चुनौती देते हैं कि 'इनमें से किसी को भी आप ले लीजिए और अनुवाद कीजिये उसका हिंदी या उर्दू में, देखूँ भला।'^{१३} अनुवाद अर्थ के अक्षरशः वाहक नहीं होते, मैथिली तो क्या अन्य भाषाओं की भी अपनी कुछ ऐसी विशिष्टताएँ होती हैं तो अनुवादक के लिए चुनौती सिद्ध होती हैं। भावना के प्रवाह में बाबा थोड़ी पक्षपातपूर्ण बातें कह गए हैं। उन्होंने मैथिली को अभिव्यक्ति क्षमता की दृष्टि से हिंदी के श्रेष्ठ एवं बाङ्ला के समकक्ष सिद्ध करने का प्रयास तो किया ही है, उसे वाक्य-विन्यास, उच्चारण क्रम, ध्वनियों एवं स्वर संघातों की दृष्टि से अंग्रेजी, फ़ारसी यहाँ तक कि संस्कृत से भी श्रेष्ठतर बताया है जिसके लिए नागार्जुन कहते रहे हैं, "संस्कृत काव्यों की जो रचनाभूमि है, वह जब हमारे सामने आती है तो हम फिर हिंदी, बंगला, मैथिलीवाला वो सब हम भूल जाते हैं। दिमाग से हटाना पड़ता है उसे। तन्मय होकर साधना पड़ता है। तभी जाकर हो पाता है। ऐसा नहीं कि ये भी चले, वो भी चले। कल्पना करिए कि छह महीना हम पूरा संस्कृत को डिवोट करे दें तो जो खमीर आएगा, वो अपूर्व होगा... और बीच-बीच में हमने ऐसा किया है।'^{१४} यह सच है कि नागार्जुन के लेख में तनिक आवेशजन्य तलखी प्राप्त होती है लेकिन, इसके पीछे की मंशा डॉ. रामविलास शर्मा का वह कथन है जिसमें वह मैथिली को हिंदी रूपी महासागर में विलीन हो जाने में कल्याण समझते हैं।

नागार्जुन के 'हिंदी और मैथिली' लेख में भले ही मैथिली की जमकर वकालत की हो, लेकिन मातृभाषा मैथिली के प्रश्न और जीवन एवं अर्थदायिनी हिंदी भाषा के ख्याल ने उनको दुविधा एवं संशय की स्थिति में डाल रखा था। परिणामतः एक निबंध में जहाँ वे मैथिली के सशक्त पक्षधर रहे, वहीं 'धर्मयुग' नवम्बर, १९६२ अंक में हिंदी और अंग्रेजी के प्रश्न पर कटु शब्दों का प्रयोग करते हुए उन्होंने हिंदी का पक्ष लिया 'हिंदी की छाती पर अंग्रेजी को नहीं लादा जा सकता।' उनके इसी शीर्षक से प्रकाशित लेख से कुछ चयनित उद्धरण प्रस्तुत हैं:

१. अंग्रेजी का मोह हमारे रंग-रंग में बसा हुआ है, हम अंग्रेजी को ही देश की भावात्मक एकता और केन्द्रीय प्रशासन और विश्व मानव संपर्क साधन का एकमात्र माध्यम माने बैठे हैं। लार्ड मैकाले के वंशधरों के लिए उतना उत्साह नहीं रहा होगा, जितना हमारे अंदर है। स्वाधीनता हासिल कर लेने के बाद तो हमारा यह उत्साह और ही उफान खाने लगा है।

सरकारी आँकड़े के मुताबिक क्या फीसदी औसत-अनुपात होगा अंग्रेजी जानने वालों का ?

-ढाई प्रतिशत! आप उसे तीन प्रतिशत मान लीजिए...

-उनमें से अच्छी अंग्रेजी जानने वाले कितने होंगे ?

- एक प्रतिशत ! - आधा प्रतिशत !

कैसी विडंबना है !

वस्तुतः यह संकट अमुक या अमुक भाषा को हटाने या रखने का संकट नहीं है, यह संकट है जनसामान्य को हमेशा के लिए 'शूद्र और चांडाल' मानकर शासन के मंदिरों में जमे हुए देवता-क्लास का स्पर्श-दोष से बचने और बचाने का।^{१५}

२. संसार की निगाहों में हमारी यह अंग्रेजी-भक्ति भारतीय जनता की इस मानसिक पंगुता का चटकीला विज्ञापन साबित हो रहा है। देश के बाहर जाने पर इस सच्चाई का पता चलता है, दुनिया-भर के समझदार व्यक्ति हमारे स्वाभिमान को संशय की भावना से तोलते हैं- क्या इन भारतीयों की अपनी कोई भाषा नहीं है ?^{१६}

३. मैंने बहुत-बहुत खोजा, मगर यह 'हिंदी वाला' मुझे कहीं नहीं मिला। कहाँ बोली जाती है हिंदी ? बल्कि यह पूछना ठीक होगा कि कहाँ नहीं बोली जाती है हिंदी ? कहाँ नहीं समझती जाती है ? यह समूचे देश की साझी भाषा है, केवल उत्तरवालों की बपौती नहीं है ! साधुओं-संतों, फकीरों-दरवेशों, घुमंतू-बनजारों, सिपाहियों-हरकारों, बनियों-सौदागरों, पंडितों-मौलवियों, कारीगरों-दस्ताकारों के जत्थे हजारों साल से दूर-दूर घूमते-फिरते रहे हैं। उनमें गूँगा एक प्रतिशत भी नहीं होगा। सो अभिव्यक्ति का यह प्रबल माध्यम (हिंदी) उन्हीं पूर्वजों की देन मानता हूँ

मैं- अखिल भारतीय पूर्वजों की देन !^{१७}

भाषा मानव मन एवं आत्मा की संचेतना एवं संवेदना की वाहिका के रूप में प्रतिष्ठित है। यह सभ्यता के लंबे इतिहास में मानव की अप्रतिहत जीवनी शक्ति और जय-यात्रा की प्रत्यक्ष साक्षी और सहयोगिनी भी रही है। भाषा के महत्त्व को प्रसिद्ध कवि केदारनाथ सिंह की काव्य-पंक्तियाँ कैसे प्रतिपादित करती हैं; यह भाषा में ही देखने की बात है:

जैसे चीटियाँ लौटती हैं/ बिलों में/ कठफोड़वा लौटता है/ काठ के पास/ वायुवान लौटते हैं एक के बाद एक/ लाल आसमान में डैने पसारे हुए/ हवाई अड्डे की ओर/ ओ मेरी भाषा/ मैं लौटता हूँ तुम में/ जब चुप रहते-रहते/ अकड़ जाती है मेरी जीभ/ दुखने लगती है/ मेरी आत्मा।^{१८}

संदर्भ :

१. मिश्र, अवधेश नारायण : 'भाषा, उत्तर संस्कृति और संचार भाषा हिंदी' शीर्षक लेख, जनपथ, अंक, जन-फर. २०११ (संपादक प्रमोद कुमार तिवारी), पृ. २

२. उपर्युक्त

३. शर्मा, डॉ. रामविलास : 'मैथिली और हिंदी' शीर्षक लेख, जनपथ, अंक, जन.-फर. २०११, (संपादक प्रमोद कुमार तिवारी), पृ. १००

४. उपर्युक्त, पृ. १०, ५. उपर्युक्त, पृ. १००

६. नागार्जुन रचनावली, भाग-६, संपादक- शोभाकांत, पृ. १६७-१६८

७. उपर्युक्त, पृ. १७०, ८. उपर्युक्त, पृ. १७०

९. उपर्युक्त, पृ. १७१-७२, १०. उपर्युक्त, पृ. १७४-७५, ११. उपर्युक्त, पृ. १७६, १२. उपर्युक्त, पृ. १७७

१३. उपर्युक्त, पृ. १७६

१४. नागार्जुन और त्रिपाठी, कमलेश दत्त की वार्ता; सापेक्ष-३४, (संपादक महावीर अग्रवाल), पृ. २२०

१५. नागार्जुन रचनावली, भाग-६, संपादक- शोभाकांत, पृ. २१६, १६. उपर्युक्त, पृ. २१७, १७. उपर्युक्त, पृ. २१८, १८. सिंह, केदारनाथ: जनपथ, अंक, जन.-फर. २०११, (संपादक डॉ. प्रमोद कुमार तिवारी), पृ. ७६

संपर्क : लेन नं. 1, वैष्णवी बिहार कॉलोनी, सुसुवाही,

वाराणसी- 221011, मो. 7376829398

कविता गुमराह है कुशेश्वर

आज मंगलवार २२-११-२०१६ लिखने बैठा हूँ- हादसों का बोझ लेकर। यूँ तो कुछ हादसे कभी-कभी मृत्युशैया लेकर आते हैं अपनों के लिए, अपनों के बीच। ऐसे में हम दुखी रहकर भी शव को संस्कार-सम्मान के साथ यथेचित स्थान पर पहुँचाते हैं। किंतु हादसे जब जीवन के टूटे हुए आईने में खिर जाँय तो हम क्या करें ?

पिछले बारह-तेरह दिनों से पूरे देश में अफरा-तफरी मची है। लोग जगह-जगह कतारों में खड़े होकर डर रहे हैं, जर रहे हैं, कुछ मर रहे हैं। जबकि न तो कोई अरबपति, करोड़पति, न बाहुबली, न कोई सांसद (एक को छोड़कर), विधायक, जज, वकील, थाना प्रभारी कतार में खड़ा हुआ न ही हृदयघात से मरा। फिर भी बहुत सारे लोग खुश हैं कि देश में राम-राज्य आकर रहेगा। विदेशों में काला धन जमा करने वाले पकड़े नहीं गए, अब देश में काला धन रखने वाले जरूर पकड़े जायेंगे। (उन्हें यह पता ही नहीं कि काले धन को सफेद करने के यहाँ हजारों रास्ते उन्होंने बनवा रखे हैं।) यानि कि कतार में खड़े निम्न एवं निम्नमध्यवर्ग के लोगों के पास ही जैसे सारा काला धन दबा पड़ा है।

अरे! आजकल तो लोग सिर पर भी सफेद बाल रखना नहीं चाहते, काला कर लेते हैं फिर मन तो काला रहेगा ही। और जब मन काला रहेगा तो तन के साथ धन भी काला रहेगा जरूर। वरन् क्या कारण है कि विश्व का हर देश धर्म में डूबा हुआ है; हर घर प्रतिदिन सुबह में उपदेशों से स्नान कर रहा है फिर भी चोरी, लूट, हत्या, बलात्कार, आतंक का जाल लगातार फैलता जा रहा है और हमारी संवेदना का ह्रास होता जा रहा है। बस, आँखों से बहते हैं घड़ियाली आँसू और मुँह से निकलते हैं वे शब्द जो बच्चों के खेलने वाले गैस के गुब्बारे की तरह उड़ जाते हैं आकाश में। ऐसे समय में एक संवेदनशील और प्रतिबद्ध कवि चुप बैठा नहीं रह सकता। उसकी वाणी अवश्य मुखर होगी, चाहे जिस रूप में हो, तभी तो सुभद्रा कुमारी चौहान ने लिखा था-

‘हैं कलम बंधी स्वच्छंद नहीं, अब हमें बतावे कौन हंत, वीरों का कैसा हो वसंत?’

मेरे मन में बार-बार यह प्रश्न कौंध रहा है कि पिछले दिनों जिन लोगों की अनचाहे मृत्यु हुई (एक हादसे के कारण), क्या वे हमारे समाज के लोग नहीं थे? क्या वे केवल समाचार का एक हिस्सा मात्र थे? हम जन और जनता की बात करते हैं तो यह कैसे भूल सकते हैं कि उनके बीच कोई होरी मरा होगा, कोई बुद्धन कोई गुलफाम कोई कवि, कोई लेखक भी रहा होगा? कोई बच्चा (जो मरा) बड़ा होकर लेखक या दार्शनिक बनता? जितनी भी राष्ट्रीय स्तर की लेखकीय संस्थायें हैं किसी ने भी उनके लिए। मिनट के मौन का कार्यक्रम भी उचित नहीं समझा? फिर काहे की प्रासंगिकता?

आपने अपने संपादकीय में ‘कविता के स्वरूप और उसके औचित्य’ की तलाश की है, जो इस पत्रिका के लिए औषधीय संकेत है। वास्तव में देखा जाय तो कविता का जन्म ही संवेदना की छोटपटाहट से हुआ है और उससे उठने वाली आर्तनाद हमें सदा अन्याय के विरुद्ध खड़ा करती है। जब ऐसा नहीं होता है तो तुलसी झल्ला के कहते हैं- ‘सब ते भले वे मूढ़, जिन्हें न व्याप्त विपत जग।’

आपका यह संकेत ‘आज के रचनाकार ‘एक्सपोजर और प्लेटफार्म’ की तलाश में ज्यादा हैं। क्यों

न रहें? दिल्ली जाने के लिए ट्रेन जिन्हें पकड़नी है उन्हें स्टेशन के प्लेटफार्म पर जाना ही होगा और जिन्हें 'फ्लाईट' उपलब्ध है वे एयरपोर्ट के रनवे तक जायेंगे ही। इस दौड़ के पीछे एक महाभारतीय परंपरा जिस पर विषद रूप में चर्चा फिर कभी। फिलहाल ये कहना है कि कविता आजकल कविता के नाम पर मनोरंजन है या फिर यश प्राप्ति का साधन, जिसमें न तो मन है और न जन तथा साधना तो बिल्कुल गायब है। दरअसल, साधना के बीच किसी का दखल या निर्देश कतई अपेक्षित नहीं किंतु विश्वविद्यालय व्यवस्था और आलोचकीय संस्थाओं का बहुस्तरीय हस्तक्षेप बिखरा पड़ा है, जिस कारणवश कविता गुमराह है। ऐसे में जैसा कि मैंने आगे उल्लेख किया है 'ट्रेन' पकड़ने के लिए एक प्लेटफॉर्म चाहिए और ट्रेन से उतरने के बाद मालाओं से लदी गर्दन का 'एक्सपोजर' जो कि धीरे-धीरे चाहत की आदत में बदल जाती है जिससे हॉल हो या मैदान, उद्बोधन से या आंदोलन आगे-पीछे कैमरा डोलता रहता है।

कमोवेश इस तरह की परिस्थिति में लोकतांत्रिक व्यवस्था उस सामंती व्यवस्था को जागृत करने लगती है, जहाँ आमजन बड़े-बड़े मैदानों में गद्देनजर हरी-हरी घास की तरह बिछ जाते हैं, जहाँ सामंत या सामंती दूध में नहाये गोल्फ खेलने का आनंद उठाते हैं। इसीलिए तो जिस देश में आज भी 'काला हांडी' मौजूद है, हजारों गाँवों में पक्का रास्ता नहीं, बिजली नहीं, हजारों जगहों पर सिंगल रेलवे लाईन है, किसान आत्महत्या कर रहे हैं; वहाँ बुलेट ट्रेन चलाने की बात कही जा रही है। आखिर यह व्यवस्था किसके लिए?

दरअसल, हमारे यहाँ दया और धर्म का बड़ा प्रकोप है और धार्मिक व्यक्ति को दया दिखाने तथा दान करने के लिए गरीब एवं भूखे लोग चाहिए। वे कहाँ से आयेंगे?

आज 'सैटेलाइट का युग' लाइट में सेटल होने का युग है, तभी तो पुराने मटमैले, धुंधले शब्द धड़ाधड़ डिलीट किये जा रहे हैं। स्मार्ट होने का मतलब है सब कुछ 'शार्ट' या 'शार्टकट' में। वैसे भी 'स्मृतियाँ अपनी जड़ों के साथ एक मौलिक रिश्ता हमेशा नहीं रख पातीं- (वह ट्रेजडी जो बावड़ी में अड़ गयी, पृ. ८५)

कविता की वर्तमान स्थिति का जायजा लेते हुए डॉ.

जगदीश्वर चतुर्वेदी ने 'संस्कृत काव्यशास्त्र की समस्याएँ' के अन्तर्गत कई प्रकार की समस्याओं को समाहित किया है, जिस पर गंभीरता से विचार करने की आवश्यकता है। वे जब कहते हैं- 'काव्यशास्त्र की एक प्रमुख समस्या है नये अर्थ की खोज। नये अर्थ की खोज के लिए आलोचकों ने नये रूप तत्त्वों को मूल आधार बनाया, जबकि वास्तविकता यह है, नया अर्थ रूप में नहीं समाज में होता है' पृ. ६८ और वे इसका उत्तर भी देते हैं- 'इसका एक ही उत्तर है- काव्यशास्त्री और लेखक दोनों का समाज से अलगाव, पृ. ६९ और इसके कई कारणों में एक कारण है- काव्य भाषा से संवेदनाएँ और भावुकता गायब होती चली गयी- भाषा के अमूर्तन में कवि खो गया- पृ. ७३!

मेरा तो यही मानना है कि वर्तमान के रचनाकारों की सबसे बड़ी चिंता यही होनी चाहिए कि मस्तिष्क के बाहरी दबाव को जितना हो सके, कम करे और संवेदना अधिक से अधिक जागृत करें ताकि कविता से दूर होते हुए पाठक को पुनः करीब लाया जा सके।

सुधीर रंजन सिंह अपने आलेख 'कविता के प्रतिमान : एक बहस' में कुछ-कुछ इन्हीं बातों को प्रतिपादित करते नजर आते हैं। यथा- कविता आलोचना के पिछलग्गू के रूप में दिखाई पड़ी। प्रतिमानों की चिंता से ग्रस्त होकर कविता रची गई। (पृ. २५)

मुझे तो लगता है कि कविता जब तब आलोचना की मुंहा पेक्षी रहेगी या तथाकथित काव्यशास्त्र के ढांचे में बंधी रहेगी, तब तक उन्मुक्त होकर आकाश में उड़ नहीं सकेगी बल्कि एक सुंदर पिंजड़े में तोता-मैना सी बंधी कूदती-आवाजें करती रहेगी। यही कारण है कुछ लोग कविता को दर्शनीय वस्तु के रूप में बदल देना चाहते हैं। 'दरअसल, बाजार के लिए ऐसी किसी वस्तु की प्रासंगिकता नहीं है, जिसका व्यवसाय न हो सके।' (पृ. १०७, कविता की हुंकार- ऋचा)

इस अंक में संपादकीय में यह घोषित है- 'मुक्तांचल का मुख्य स्वर अकादमिक है' वहीं पृष्ठ १०७ पर उल्लिखित है- 'मुक्तांचल' के संपादक की चिंता 'नई जमात क्या केवल डिग्रियाँ बटोर कर बैठ जायेंगी। उनके

लिए भाषा और साहित्य क्या सिर्फ रोजी-रोटी का जरिया बन कर रह जायेगा !'

यहाँ मुझे अपनी नानी की कही एक कहानी का छोटा-सा प्रसंग याद आ रहा है, वह यह कि एक बंदी राज दरबार में पेश किया जाता है। राजा उससे उसके जुर्म के बारे में पूछता है तो बंदी कहता है- 'जान की अमान पाऊं तो सच बताऊँ।' राजा उसे जीवन दान का वचन देता है। इस पर बंदी सच-सच बारी घटना बोल देता है। सुनकर राजा सन्। चूंकि बंदी के बयान से रानी की मर्यादा का हरण होता, इसलिए मंत्री चुप से राजा के कान में एक नुस्खा बता देता है जिसके तहत राजा खुश होता है और बंदी को मृत्युदंड दे देता है। 'शायद तब यह कहावत प्रचलित हुई होगी- 'झूठ कहे तो जग पतियाय, सांच करे सो मारा जाय'।

मुझे अपने मारे जाने का भय नहीं है (जिंदा ही कहाँ है हमारे जैसे लोग)। अतः सत्य ही कहूँगा कि विश्वविद्यालय सत्ताधारियों के बीच कुछ भी सामंती सोच काम करने लगी थी, उन्होंने हिंदी साहित्य को काफी क्षति पहुँचाई है। अन्यथा अज्ञेय यह न कहते- 'मैं क्या जानता था कि यह गति होगी कि विश्वविद्यालय में हिंदी प्राध्यापकों द्वारा पढ़ाया जाऊँगा।'

दरअसल, सुर, तुलसी, कबीर, रहीम आदि किसी विश्वविद्यालय की देन नहीं थे, क्योंकि संवेदना एवं जनहित की भावनाओं की संभावनाओं का उत्स हृदय है, मस्तिष्क नहीं। और डिग्रियाँ मस्तिष्क से मिलती हैं, हृदय से नहीं। शायद यही कारण है कि अधिकांश अकादमिक विद्वान आलोचना में प्रवेश के बाद कविता-कहानी से दूर होते चले गये। यह तो अच्छा हुआ कि महादेवी, पंत, प्रसाद, निराला, प्रेमचंद आदि सैकड़ों रचनाकार अकादमिक विद्वान

नहीं बने अन्यथा हिंदी साहित्य केवल आलोचना का मैदान बन कर रह जाता। मेरी अपेक्षा यही रही है कि कविता हृदय से अंकुरित हो और मस्तिष्क से उसे पल्लवित किया जाय।

आज जब 'बाप बड़ा न भैया, सबसे बड़ा रुपैया' का नारा दिन-रात उछाला जा रहा है, 'कालाधन' और 'उजला-धन' की गूँज चारों ओर सुनाई दे रही है; तो ऐसे में हिंदी के विद्वान रोजी-रोजी की चिंता क्यों न करें? वरन् साहित्य में तो वहीं डूबते हैं जिन्हें 'घर फूँक तमाशा देख' का पागलपन लग जाता है। आप को भी इस दर्द का अनुभव जरूर हुआ होगा, तभी तो उपरोक्त पंक्तियाँ आई हैं!

आज के इस संवेदनहीन होते जा रहे समाज में हम पत्थर होते जा रहे हैं। तभी तो समाज पर जैसी भी विपत्ति आए, सब कुछ चलता रहता है- सट्टा, जुआ, रेस, गुंडों का अत्याचार, मिलावट.... धारावाहिक चलते रहते हैं, मॉल में सिनेमा और शराब उपलब्ध होते हैं, बिग बाजार खुले रहते हैं, क्रिकेट का खेल चलता रहता है, नेताओं का चुनावी भाषण हो रहा होता है, तो फिर दर्द कहाँ है? कहाँ है अभाव की यातना? कहाँ है वह समाज जिसका दर्पण साहित्य बने? वैसा दर्पण तो आज से चालीस-पच्चास वर्ष पूर्व इस समाज की सीलन भरी दीवार पर टांगा गया था, जो इतना मैला हो गया है कि उसमें अब कुछ दिखाई नहीं देता। क्या हम सब मिल कर एक नया दर्पण बना पायेंगे? यह काम लघु पत्रिकाओं मिलकर कर सकती थीं, कर सकती हैं लेकिन उनके सामने जो सबसे बड़ा संकट सुरसा की तरह मुंह बाये खड़ा है, वो है- पत्रिका के प्रकाशन, उसका प्रसार और सामान्य पाठकों तक पहुँचाये जाने की मोहलत, ऐसे में जो कुछ लोग इस जोखिम को उठाकर हिंदी साहित्य की चिंता करते हैं, उन्हें नमन!

संपर्क : पी-166/ए, मुदियाली फर्स्ट लेन, कोलकाता-700024, मो. 9831894193

‘मुक्तांचल’ जुलाई-सितम्बर २०१६, अंक-०९ को आद्योपांत पढ़ गया।

संस्तुति में आपके विचार संतुलित हैं। किंतु समकालीन कविता क्या है? उस पर सही तस्वीर नहीं आ पायी। सच्चे कवि को अपना कवि-कर्म करना चाहिए, जनता उसे देखती है; पहचानती है।

विश्वविद्यालय परिसर से जुड़ने का मतलब यह तो नहीं है कि रचनाओं में समीक्षण, नव-सृजन, नव-आस्वाद और साधारीकरण की बात नहीं होगी। रचनाकार अपने आलेखों में संस्कृतनिष्ठ भाषा और शोध-कर्म का टुकड़ा परोसे, यह कहाँ तक समीचीन है। परिसर से कई आलेख, सरल, सुबोध और पठनीय मिलते हैं पाठक उसे सराहते हैं। इस ओर ध्यान देना चाहिए।

प्रो. सूर्यप्रसाद दीक्षित का आलेख- ‘छायावादी काव्य का वैशिष्ट्य’ पठनीय है। छायावादी काव्य-आंदोलन की प्रमुख देन की चर्चा की गई है। परंतु निष्कर्ष में दीक्षित जी के विचार से चकित हैं कि ‘छायावादी-काव्य सम्प्रति बहुत प्रासंगिक हो गया है। भाई ऐसी तर्कहीन बातें न करें। हर युग की अपनी विशेषताएँ होती हैं। छायावाद अलग है। सच कहा जाय तो समकालीन कविताओं में संवेदना, अनुभूति और भाषा सशक्त हुई हैं, कमजोर नहीं हैं कहीं। इधर की कविताओं को पढ़ने की जरूरत है। हर वाद से कविता की काया ही सुधरती है। ‘वाद’ आने वाले रचनाकारों/कवियों को नवीनता, शब्द-संपदा और भाषा की ताजगी देता है। वहीं, प्रो. मुक्तेश्वर नाथ तिवारी का आलेख ‘कविता सबसे पहले शब्द है: अज्ञेय- विचारणीय है। जहाँ अज्ञेय की कविताओं के शब्द मूलतः तत्समता और तद्भवता के साथ खचित हैं। साथ ही अज्ञेय जी बिंबात्मकरूपों की सृष्टि में दक्ष और अप्रस्तुतों के लिए नितांत मौलिक हैं।

डॉ. मनीषा झा का आलेख ‘समकालीन हिंदी कविता: अध्ययन की समस्याएँ और स्वरूप’ खोजपूर्ण है। आलेख समकालीन कविता की सही जांच पड़ताल करती है। समकालीन कविता अपने स्वरूप में वैविध्यपूर्ण और वृत्ति में प्रतिरोध युक्त है। आलेख श्रम से लिखा गया है। बधाई। वहीं, डॉ. सोनम सिंह का आलेख ‘नयी कविता सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य मुक्तिबोध की दृष्टि में- शोध पूर्ण है। १९४३ में प्रकाशित तारसप्तक के साथ कविता के क्षेत्र में एक नयी धारा उपजी जिसे ‘नयी कविता’ कहा गया। मुक्तिबोध ने उस प्रवृत्तियों में खामियां देखी और उसका जमकर विरोध किया। आलेख संग्रहणीय है।

डॉ. ओम प्रकाश एच. शुक्ल का आलेख- ‘हिंदी गज़ल: दुष्यंत के बाद’ पठनीय है किंतु कई प्रश्न उठाते हैं। क्या चंद भाइयों के हवाले से इस तरह की गज़लों के अर्थ समझाये जायेंगे। बहुत नये भाई हैं जिनमें आलेख में जगह देना चाहिए। कुछ गज़लें और गज़लकार तो समकालीन परिवेश में चर्चित और बेहतरीन हैं।

वहीं, डॉ. रंजना अरगड़े का आधुनिक आलेख ‘सरोज-स्मृति’ जीवन के यथार्थ की शोकान्तिका’ पठनीय है। ‘निराला’ जी के कठिन समय की यह कृति है। आलेख संक्षिप्त होते हुए भी मर्म को छूता है।

मीना कुमारी का आलेख ‘सत्योदक से जन-प्राण को सींचता अविराम काव्य’- ‘यात्री’ का संवेदन संसार-शोधपरक एवं संग्रहणीय है। ‘यात्री’- (नागार्जुन) जो मैथिली साहित्य के प्रसिद्ध कवि थे। हिंदी साहित्य में नागार्जुन नाम से प्रसिद्धि पायी। सभी जानते हैं। यात्री की कविताएँ अपने अंचल के समग्र-परिदृश्य की जीवंत और प्रामाणिक दस्तावेज है। वहीं, भैरव सिंह का आलेख ‘मैंने उसको जब-जब देखा: केदारनाथ अग्रवाल-पठनीय है। केदारनाथ जी प्रगतिशील कविताओं के जन कवि है। हम लड़ेंगे और जीतेंगे- यह उनकी कविताओं का मूल मंत्र है। इस भाव को सुदृढ़ और स्थायी बनाया ‘मार्क्सवाद के अध्ययन और जनता के प्रति उनके अटूट प्रेम व विश्वास ने। आलेख का यही मूल धर्म भी है। विमल वर्मा का आलेख ‘अनुभूति की समसामयिकता’ पठनीय है जहाँ अनामिका के प्रसिद्ध ‘अनुष्टुप’ काव्य संग्रह विश्लेषणात्मक अध्ययन-मनन किया गया है। भाव-भाग, अनुभूति और त्रासदियाँ और इक्कीसवीं सदी में स्त्री, यातनाएँ- इस काव्य का मूल सर्जनात्मक पुनराह्वान ही है।

वहीं, डॉ. उमेश चंद्र शुक्ल का आलेख 'पंत की परिवर्तन कविता: एक दृष्टि' पठनीय है। यह पंत जी को जटिल एवं ग्रंथिल रचना है वस्तुतः परिवर्तन अन्तः संघर्ष और नये-भावबोध की रचना है। यूँ तो 'पल्लव' (१९२८) में नये काव्य गुणों और नये भाव आलोक की उद्घोषणा ही थी। निःसंदेह 'परिवर्तन' कविता दार्शनिक, सांसारिक, व्यावहारिक एवं यथार्थवादी चेतना की कविता है।

डॉ. जगदीश्वर चतुर्वेदी का विमर्श आलेख- 'संस्कृत काव्यशास्त्र की समस्याएँ' -खोजपूर्ण है। इस आलेख में संस्कृत काव्य के रूप तत्त्व पर विशेष बल दिया गया है और उसकी खामियों को भी दर्शाया गया है।

वहीं, सुधीर रंजन सिंह का विमर्श आलेख 'कविता का प्रतिमान : एक बहस' -विचारणीय है। डॉ. नामवर सिंह 'कविता के नये प्रतिमान (१९६८) लिखकर रूपवादी झुकाव को ही स्पष्ट किया है। नयी-समीक्ष और नई कविता के बरक्स मुक्तिबोध, नागार्जुन और त्रिलोचन की कविताओं का संगोपांग अध्ययन किया गया है।

पाण्डेय शशिभूषण 'शीतांशु' का पुनर्पाठ आलेख - 'असाध्य वीणा' तो शब्दहीन सब में गाता है' -पठनीय है। अज्ञेय का 'असाध्य वीणा' पर नगेन्द्र शर्मा और असल में 'असाध्य वीणा' की वीणा का संबंध भारतीय अध्यात्म की 'दैवात्-वीणा' से जुड़ा है तो हमारी मानवीय काया ही है।

डॉ. राजेन्द्र मिश्र का अंतःपाठ 'आलेख' - 'वह ट्रेजडी वो बावड़ी में अड़ गयी' - पठनीय है। मुक्तिबोध की कहानियों और कविताओं के बरक्स बावड़ी में अड़ी और पागल-प्रतीकों में कही जाती हुई ट्रेजडी की जोड़ हमारी उस जिंदगी में है जिसमें हम जीते हैं। उसके एक ओर युद्ध, अकाल और महामारी है, प्रजातंत्र, संसद और संविधान है तो दूसरी ओर हमारी निजी अभिव्यक्तियाँ और आशंकाएँ, प्रेम और घृणा की सैकड़ों संवेदनाएँ हैं। तीसरी ओर जन्म और मृत्यु से जुड़े सनातन सवाल हैं। वहीं, शशिभूषण द्विवेदी का अंतःपाठ आलेख 'संसार को अंगूठा दिखाता अंगूठा: 'एकलव्य'- विचारणीय है जहाँ 'एकलव्य' का नया-विमर्श किया गया है। डॉ. वर्मा का 'एकलव्य' वस्तुतः दलित विमर्श की ओर इशारा करता है।

प्रो. अवधेश नारायण मिश्र का गवेषणा आलेख- 'स्वच्छंदवाद: तात्त्विक स्वरूप' - ज्ञानवर्द्धक है। आलेख में स्वच्छंदतावाद की विस्तृत चर्चा की गई है। हिंदी एवं पाश्चात्य लेखकों की जानकारी भी मिली। वहीं, ऋचा का गवेषणा आलेख 'कविता की हुंकार: क्यों शाहिद-ए-गुलबाग बाजार में आवे' पठनीय है। आज कविता मुख्यतः समकालीन कविताएँ बाजार से घुल मिल गई हैं। इस उपभोक्तावादी समय में बाजार पूरी तरह पाँव पसार चुका है। ऐसे समय में कविता इसके प्रतिरोध में आवाज बुलंद कर रही है।

देवनाथ सिंह आनंद गौतम का प्रलेखन/प्रतिलेखन आलेख 'कसौटी कविता: कवि-मन दृष्टि और सृष्टियाँ' पठनीय है। आलेख में भटकाव अधिक है। कवि मन दृष्टि अस्पष्ट है वहीं सृष्टियाँ भी नदारद हैं।

कुशेश्वर की कहानी 'छज्जू पाकेटमार की शादी' अच्छी लगी जहाँ छज्जू पाकेटमार की शादी बदीसुद्दीन की बहस से होती है। बदीउद्दीन एम.एल.ए. का खास आदमी है। बस, चुनाव सामने है। नेताओं का हुजुम इसी बात को दर्शाता है। सभी लोग जुगाड़ में हैं। ओमप्रकाश और देवनाथ वहाँ मौजूद हैं। उस सजावट और खर्च को देखकर हैरान है अंदर कुछ और बाहर कुछ है। कथा छज्जू के अन्तर्मन की थाह लेती है। वहीं, सिद्धेश की 'फन्टू' कहानी बुलिया के जीवन की सच्चाई को परोसती है। सच जानकर अंकल मर्माहत हुए।

विवेक द्विवेदी की 'बेशक मैं गुनहगार था' भटकती आत्मा की कथा लगी जहाँ गुनाह कुबुल करते हुए चौराहे पर विवेकानंद की मूर्ति के समक्ष नायक रोता है और इस्माइल मूर्तिकार से अच्छा आदमी और कलाकार की शिफ्ट दृढ़ता है।

कमल किशोर गोयनका से डॉ. रवि शर्मा की बातचीत अच्छी लगी। वहीं वरिष्ठ नवगीतकार अनूप अशेष से राजा अवस्थी की बातचीत भी प्रशंसनीय है।

डॉ. रामदरश मिश्र, विष्णुचंद्र शर्मा, यश मालवीय, तरसेम गुजराल, स्वप्निल श्रीवास्तव, मधु प्रसाद और ऋतेश पाण्डेय की कविताएँ संवेदनाओं एवं अनुभूति से रस सिकत हैं एवं युगीन सच्चाइयों से मुठभेड़ करती हैं। वहीं, बुद्धिनाथ मिश्र के 'नवगीत' भी प्रभावोत्पादक हैं।

संपर्क : पूर्णिया, बिहार, पिन- 854301

शैलेंद्र शांत

खतरे बहुत हैं, ओ नन्हीं चिड़िया...

खतरे बहुत हैं आंधियों के
और काली घटाओं के भी
निरापद न समझना
ओ नीड़ से निकली चिड़िया
उस शरारती बच्चे के हाथ में
गुलेल है और उधर बहेलिया भी
लगाए बैठा है घात
बिछा रखा है जाल
ऊपर रख छोड़ा है पात
वह चूहे की फिराक में ही
नहीं रहती हरदम
कभी-कभी चख लेना चाहती है
दूसरा भी स्वाद
उनसे तो बचकर ही रहना पाखी
उनके सिर्फ डैने ही नहीं है विशाल
चोंच भी है बड़ी धारदार-नुकीली
बच के रहना, सम्भल कर रहना
खतरे बहुत हैं, ओ नन्हीं चिड़िया...

हालांकि

बहुत देर तक
जहोजहद करते रहे
वे शब्द जो कहे गये थे
बहुत जोर देकर
वे वजनी शब्द हल्के
महसूस हुये जब सुने गये
गुनते हुये भी कुछ बेअसर से
हालांकि वे जाने-माने मुखों से
उच्चारें गये थे, पुचकारे गये थे...

कि हंसी छूट गई!

पहले पहल
लिखा आदरणीय
और इसके बाद
परम का अलंकार जोड़ा
कुछ साल बाद बना डाला श्रद्धेय
और अभी हाल में ही उन्होंने
मुझे सौंपी किताब पर लिखा
श्री तमुक को सादर
उनके आदर के उतार-चढ़ाव पर
मैं विचार कर रहा था कि हंसी छूट गई!

दोस्त-दुश्मन

धुआँ
आग
चिंगारी
हमसफर हैं
दिलजलों के
अनिद्रा
भय
आशंका
दोस्त
दुश्मन तो
जैसे सारा जमाना!

आना

ओ आसमान में
चमकते सितारे
कभी तो धरती पे
उतर के आ रे
टूट कर गिरने को
आना नहीं कहते
इतना तो समझ जा रे...

हुआ तमाशा दिल्ली में!

एक भोली-भाली बिल्ली ने
मरियल चूहे का रास्ता काटा
तो मोती को गुस्सा आया
उसने रूसी को दौड़ाया
तभी कहीं से परिचित
वह हँचू निकल आया
उसने दुलती लगाई
दौड़ कर जाने कहाँ से आया
जोर-जोर से वह हिनहिनाया
पब्लिक ने ताली बजाई
बाकी सब आ गये सकते में
हुआ तमाशा यह दिल्ली में!

यहीं है न!

जरा
टटोल कर
बताना
कुतर तो
नहीं लिया
चालाकी ने
जरा देखना
दुबारा छू कर
वहीं है न
जहाँ होना
चाहिये था
हृदय को?

कि मंजर बदलेगा

मठ तोड़ते तोड़ते
मठ बना लेते हैं
पीठ ढहाते ढहाते
पीठासीन हो जाते हैं
गुटों पर बम छोड़ते छोड़ते
हो जाते हैं गिरोहबंद
कुछ लोग बैठे रहते हैं
इस उम्मीद में कि मंजर बदलेगा!

मन की बात

सुन सको तो
सुन लिया करो जी
कभी-कभार
खेतों के
बगानों के
वनों के
खदानों के
छोटे-छोटे कारखानों के
हाट-दुकानों के
मन की बात!
अपनी ही सुनाते रहोगे
आखिर कब तक?

भिक्षु भिक्षा

खाते हैं, पीते हैं, मौज करते हैं...
-और क्या करते हैं हुजूर?
-निराला, नागार्जुन, मुक्तिबोध... करते हैं
-और?
-सर्वेश्वर, रघुवीर, नरेश गहते हैं...!
-बस इतना ही?
-नहीं, नामवर, मैनेजर, वाजपेयी... भी जुबां पे
रहते हैं!
-बहुत अच्छा प्रोफेसर, लो मंच तुम्हारे
हवाले करते हैं!!

संपर्क :

36, सबुजपल्ली, देशप्रियनगर, बेलघरिया,
कोलकाता-700056, मो. 9903146990

अविश्वास की भीड़ बहुत है

अविश्वास की
भीड़ बहुत है
क्या होगा विश्वासों का।

मर्यादाएँ
टूट रही हैं
सपनों के तहखानों में
अघटित
घटित हो रहा युग के
अपने ही पैमानों में
फिर यथार्थ के
पांव चुभे हैं
क्या होगा संत्रासों का

अब संवेदन शून्य
हवाएँ तोड़ रहीं
हरियल शाखें
फिसल रहे
संबंधों के पल
पथराई फिरतीं आँखें
स्नेह
कांच के गुलदस्ते में
क्या होगा अवसादों का।

झूठे पहरदार
खड़े हैं
सच की बौनी चौखट पर
प्यास
निगोड़ी होंठ चबाये
इन आँखों के पनघट पर
बारूदी
मुस्कान भरे हैं
क्या होगा इतिहासों का।

तंग जड़ों में अंकुर होंगे

तंग जड़ों में
अंकुर होंगे
आज नहीं तो कल।

कल जो था वटवृक्ष
बीज फिर छोड़ गया माटी में
टूटेगा वह भीतर-भीतर
अपनी परिपाटी में
हरियल पंख
लिये उड़ने को
आयेगा चंचल।

शाखाएँ
बाहें फैलाये
बांधेंगी तूफान
चिंताओं के बोझ लिये
ठहरेंगे व्याकुल प्रान
दर्द-दुःखों को
बाटेंगे जब
पात-पात आंचल।

लय में
हवा झकोरे देगी
नभ के पंख खुलेंगे
संध्या के
नीरव- शिखरों पर
इन्द्रधनुष निखरेंगे
हम तोड़ेंगे
चक्रव्यूह के
भीतर वाला छल।

संपर्क : 259, शांति निकेतन, साकेत नगर, लालगंज,
229001 (उ.प्र.), मो. 09984412970

कजरीटों के दिन

कजरीटों के
दिन बहुरे हैं
गर्द-गुबारों में।
दरवाजे चुप मारे बैठे
चौपालें सोई
आँगन और दलानों में
पीड़ाएँ जा रोई
मान और मर्यादा
शामिल हैं
बटमारों में।

हर मिजाज के
छद्म नई
परिपाटी ढूँढ़ रहे
ग्लोबल पांव सफर में
आकर अर्थारूढ़ हुए
परिक्रमाएँ
होड़ लगाती हैं
दरबारों में।

राजमार्ग पर
कोहरों ने फिर
गठरी खोल दिये
सूरज के चेहरे पर
भ्रष्टाचार उड़ेल दिये
आँख मूँदकर
शिखर-पुरुष
बैठे गद्दारों में।

शोभा सिंह

बियो दे प्लाता

रियो दे प्लाता	जगाती है जीवन
नदी	लबालब
खूब चौड़ी	अटलांटिक महासागरों में
मटमैले समन्दर-सी	होने को विलीन
माटी की जड़ें	मिलन स्थल मनोरम
धुली रूली	अपना सहज गुण
पालदार नावें	मिठास
मछुआरा छोटी डोंगी	नहीं छोड़ती
अलमस्त	नदी वहाँ भी
जल पोत	देशों की
ध्यान मग्न लहरें	सीमा से परे
पथरीले किनारों से	सभ्यता की पताकाएँ
बार-बार टकरातीं	इतिहास की गूंज
पाषाण हृदय को	अनुगूंज कदमों की
खंगालती	युद्ध का नाद
किनारे की कालिमा में	पराजय की पीड़ा मनुष्यता की शर्म
हलचल मचा देती:	सब इसके क्षितिज पर
‘देखो, कितने गंदले हो तुम	अलिखित अग्नि की
संकुचित होकर!’	लाली-सा
लौटती हैं फिर	दहकता है
अधिक वेग से	अदृश्य चित्रित
हार नहीं मानतीं	न जाने कितनों की
बार बार दस्तक	छलछलाती संवेदना
धीरे-धीरे बदलता है	आँखों के कोरों पर
पाषाण	कोमल, तिक्त, विराग
गढ़ने लगता है	अनुभूतियाँ सरल, दुरूह
स्फटिक कलाकृति	आदमी एक ही समय में
जीवन की छिटपुट	बौना और विशाल
नन्हीं सुगबुगाहट	प्रकृति खोल देती है
मछली डुब-डुब	बंद दरवाजा
पृथ्वी को फोड़ कर	सूरज हवा रोशनी
निकली है नदी	की तरह।

विदेश में होली

रंग का एक छीटा नहीं
होली मन में
सूर्य की लपट सी जलती
कोलाहल, उमंग
लपट-झपट
अबीर-गुलाल
रंग की खुमारी
व्यंजनों की खुशबू
मिठास की मीठी महक
सब भीतर के दायरे में
खदबदाते
बच्चों की नटखट छवियां
उसके आसपास खिलखिलाहट
रंगीन गुब्बारे फूटते
सुख बांटते झोली भर
रंगीन धूप के साथ
जगमग दिन
समूह का उत्सव
संस्कृत का हठीला रूप
यहां मेरी कल्पना उड़ान में
विशाल पक्षी की तरह
धीरे-धीरे
मेरे आकाश को ढकता
और हाँ मैं अशक्त
घायल तितलियों के बीच
सोती जागती
सौन्दर्य के चुक जाने की
पीड़ा झेलती
तुम सब को याद करती
होली की सुरमयी शाम का
मुबारक भेजती हूँ
आलमारी में
यादों के एलबम को
हौले से
सरका देती हूँ।

खतरनाक समय

हवा में
बारुदी गंध
ऊपर उठती
सितारों की चमक धुंधली पड़ती जाती
रुग्ण विचार
तेजी से फैलता
कहते हैं
खतरनाक समय आने की
रणभेरी
किधर जायेंगे
मुट्ठी भर
परिवर्तनकारी जन
पैरोकार साझी संस्कृति के
किधर पनाह लेंगे
सैलाब में बह जाने से
बचेंगे कैसे
फासिस्टों का प्रकाश स्तंभ
चहुँ ओर रोशनी डालता
कारागार के सींखचे
अंधेरे में चमक जाते
उन्हें इंतजार है हुजूम का
जगहें खाली हैं
टूसे जाएंगे
विरोध के स्वर
गले में घोट दिया जाएगा
उनकी तैयारी
मुक्कम्मल है
नजाने कितने कहर टूटेंगे
भाग्य-विधाता बने आमजन के
लोकतंत्र के नाम पर
लोकतंत्र की उड़ती
धज्जियाँ
वे कहते अच्छे दिन

आने वाले हैं
और वे बहुमत से
सुखरू हो जाते
व्यवस्था उनकी
देश खुशहाल
मनसूबे बुलंद करेंगे राज लम्बा
कौन देगा चुनौती
बोलने वाले चुप हैं
क्यों हैं चुप
मौसम के साथ, समय क्या बदलता नहीं।

जंगल की आग

शाम पिघलने लगी
आनंद और उदासी
का सम्मिश्रण लिए
जंगल में लगी आग
धुआं और धुंध का मेल
आग की लपटें
धीरे-धीरे रेंगता अजगर
लाल-लाल अंगारे की फुफकार छोड़ता
चढ़ता जाता शांत चीड़ पर
चट चट हरियाली लीलता
आकाश स्तब्ध
सूरज जाते-जाते
अपने रंगों की
बेहतरीन कूची फेरता
पर असहाय वह
ढांप नहीं पाता
धूसर रंग को
जंगल, सीढ़ीदार खेत
गर्व से सर उठाए पेड़
हाय
धू धू जलते

लपटें दूर से दिखती
जलन गंध
दम घोटती
लकड़ी चिटखने की आवाज
खौफ की यह कैसी नई
धारदार लपलपाती चमक
चिटकती दिशाएँ
धुँएँ के बोझ से ढकी
बर्फीली चोटियाँ
काला भूरा कोहरा
सारे सुंदर दृश्य
फूल पेड़ सुगंध ओझल
प्राण वायु खंडित
गर्म दुख की दाह
असंतुलित पर्यावरण
पिघलने लगता
अतिरेक का भार गहन
तने चेहरे
बराबर झुकते जाते आक्रोश से
मनुष्य के लोभ ने
निर्मित किया यह आग।

संपर्क : 3/28, पत्रकारपुरम्, गोमतीनगर,
लखनऊ- 226010 (उ.प्र.), मो. 09717779268

उमा झुनझुनवाला

मिलन

मैं क्षितिज के
उस कोण पे खड़ी हूँ
जहाँ अंधेरा और उजाला
दो विपरीत ध्रुवों पे
मौजूद है

अंधेरा और उजाला
दो अलग-अलग अस्तित्व हैं
लेकिन इस कोण से
मुझे सब अँधेरे की तरफ
बढ़ते नजर आ रहे हैं

अँधेरे में
आकर्षण बहुत है
सारे गुरुत्वाकर्षणों से परे
अंतरिक्ष के उस काले छिद्र
के खिंचाव में सारी अभिलाषाएं
समा जाने को आतुर हैं

समुद्र में घटनाएँ घटित हो रही हैं
घटनाएँ बादल बन रही हैं
बादल नम हो रहे हैं
नमी में उजालों के कण
अंतरिक्ष में फैल रहे हैं

क्षितिज के
जिस कोण पे मैं खड़ी हूँ
वहाँ एक छोटी सी चाह
अपनी बड़ी बड़ी आँखों से
उजालों के उन कणों को
सुझुक रही है अपने अंदर

उन आँखों का गुरुत्वाकर्षण
ज्यादा मुलायम था जो
मेरे रोमकूपों को भरता गया
अपनी कोमल सिक्त बूंदों से
मेरी रूह को उजाला दे गया

मैंने देखा
क्षितिज के इस कोण पे
चल रहा था तो संघर्ष
अँधेरे और उजाले में
आकाश और समंदर के मिलन ने
उसे एक नीली रेखा में बदल दिया

अब नीला उजाला
नर्म चाहतों के साथ
अँधेरे की आकर्षक धुन पर
लहरों सा नर्तन करते झूम रहे हैं
और चाँद की मीठी रौशनी में
आकाश और समंदर आलिंगनबद्ध हैं

मैं क्षितिज के
इस कोण पे खड़ी
इस अद्भुत मिलन की साक्षी
उस नीली रेखा में
घुलती मिलती घटती बढ़ती
अँधेरे उजाले में समाती
उत्सव के महा उत्सव की
प्रतीक्षा में...
पुलक...
अनवरत...

थद लाथ

हाँ जानती हूँ
...बदलाव
सिर्फ़ तुममें नहीं आया है
मौसम भी बदल गया है
सर्द हवाएँ जम रही हैं
गरमाहट बंद हैं आवरणों में
रिशतों में भी कंपन है
बातें भी बदल रही हैं
बदलते मौसम के अनुसार
इसलिए जो बाकी बचा है
उन्हें भी बदल ही डालो तुम

सच जानो...
देखती हूँ जब कहीं
उन तारीखों को
वे सब लम्हें याद आते हैं
तुम्हारा ठहाका लगाना
मेरी फ़िक्र करना
मेरी किसी मुस्कुराहट पे
तुम्हारा खुश होना भी
सब याद आते हैं
इसलिए सब बदल डालो...
उन हफ़्तों और मायनों को
जिन्हें बुना था हमने
कभी सृजन के क्षणों में
उन्हें याद करके
मुझे बड़ा दर्द होता है...
और बदल डालो
उन सभी जाने अजाने
रूहानी लफ़्जों को भी
जो तुमने दिये थे मुझे
कि बनकर कबीर मैं
रूमानीयत के नए दोहे लिखूँ
कि मुर्दा साँसों को
उनका मुर्शीद मिल जाए
कि बंजर ज़मीन पर
अरमानों की फ़सल लहलहाए
मगर अब ये सब

सहज नहीं लगता मुझे
सुनो तुम बदल ही डालो सब
जैसे बदल गए हो तुम
मौसम की तरह।

मई के लंबे दिनों में

मई के लंबे दिनों में
जीवन की उमस भरी तपिश में
कोमल साँझें
बहुत छोटी होती हैं
जानती हूँ मैं

हर अलसुबह
मेरी रात चुक जाती है
कि कोई अगोचर कथा
आँखों में गुंथती रहती है
विरह के अदृश्य धागे

मेरी रूह की नमी
शुष्क हो जाती है गर्म लू की चाल से
चमक फीकी पड़ जाती है
और इसके अनेक स्वरों का संगीत
मूक हो जाता है फिर

मेरा गर्व टूटकर
मूर्छित पड़ा रहता है भरी दुपहरी
मिलन की आस हृदयपुरी में
लज्जित होकर रेत होती जाती है
आकाश कुसुम मुरझा जाते हैं

कल्पना और यथार्थ के बीच
गति और कर्म के बीच
आ जाती है फिर तेरी छाया
क्योंकि तू ही है सौंदर्य
मेरी अनंत राग-रागिनियों का

प्राप्य की सघनता
कलकंठ स्वरों में कहती है
तुम्हारा-मेरा मिलन होगा
गर्म हवाएँ चाहें
गीतों को झुलसा ही दें
थोड़ी सी जगह

अगर दे दोगे तुम मुझे वहाँ
तुम्हारे स्वरों की धारा झरती है जहाँ
अपने प्राणों में तब भर लूँगी उसे
प्रेम वीणा के तार बजाऊँगी तब

अपने प्रेम की महक लिए
बैठूँगी फिर मैं
तुम्हारे स्पर्श की आग के निकट
साँसों की लय पर बहेँगी
तब आकाश-गंगाएँ

उस समय काव्य नहीं
हम सृजित होंगे प्रियवर!!

हिज्जे

बहस के मरकज़ में थे
कुछ हरे पीले
स्याह पत्ते जिंदगी के
कुछ अनदेखे
अनबोले अल्फ़ाज़
हमारी मुहब्बत के
और थीं कुछ खट्टी मीठी
यादों की लकीरें
लकीरों से होकर गुजरते
आधे अधूरे से अहसास
अपनी पूरी शिहत से
चुभन का तीखापन बटोरते
घुलते मिलते बहते
जाने क्यूँ हर बार
मेरी ही शकल में
तब्दील होते जा रहे थे

सुनो! इस बार जब
तुम्हें फूलों के जख्मों पर
कुछ लिखने को कहा जाए
तो एक बार जरूर
मेरा जिक्र उनसे कर देना
देखना मकड़जालों की जगह
मेरे नाम का फैलाव
नज़र आने लगेगा फिर
क्योंकि हे कवि!
दर्द और मेरे नाम के हिज्जे एक ही हैं।

संपर्क : लेक गार्डन, गवरमेंट हाउसिंग, कोलकाता- 33, मो. 9331028531

कविता दो अतियों के बीच तनी बन्धी है! – राजेश जोशी

कविता लिखना कुछ कुछ दूसरे कामों के जैसा ही एक काम है लेकिन थोड़ा अलग भी। दूसरे काम करते हुए हम अक्सर सिर्फ अपने कौशल को दोहराते हैं। इसलिए ऐसे बहुत सारे काम जो पहले आदमी हाथ से करता था, मशीन से होने लगे। मशीन ज्यादा बेहतर ढंग से और ज्यादा तेजी से दोहरा सकती है। कविता में दोहराने की इजाजत नहीं मिलती। कविता मशीन या कम्प्यूटर से संभव नहीं होती।

कविता में एक बहुत दिलचस्प बात यह है कि कविता हम बिल्कुल आज की लिख रहे हों। जो कि लिखना ही होती है। कवि जिस समय में रह रहा है उससे बहुत पहले की कविता नहीं लिख सकता। अगर वह ऐसा करेगा तो वह कविता नहीं, कविता की पैरोडी लिख रहा होगा। शास्त्रीय संगीत में आप हो सकता है कि कोई पुरानी बंदिश को उसी तरह गा सकते हों, लेकिन कविता में आप अपनी ही बहुत श्रेष्ठ और महान कविता के अंदाज़ की कविता फिर से नहीं लिख सकते। शिल्प, भाषा, अन्तर्वस्तु और संवेदना के स्तर पर आप अपनी भाषा की प्राचीन कविता का अनुकरण नहीं कर सकते। लेकिन कविता लिखना अपने आप में एक प्राचीन काम है। इस तरह इसके दो छोर हैं। दो अतियाँ। दो अतियों के बीच कविता एक तनी हुई रस्सी हैं। कवि जिस पर एक नट की तरह चलता है। यह एक मुश्किल कला है। इसके लिए बहुत हुनर चाहिए और अभ्यास भी। रियाज सिर्फ संगीत में ही नहीं होता। छंद के एक बार सध जाने के बाद शायद उसमें भी अभ्यास की कम जरूरत पड़ती होगी लेकिन आज की कविता....जिसका कोई छंद नहीं है और जिसके शिल्प का कोई व्याकरण भी ठीक ठीक नहीं बताया जा सकता, इसमें रियाज की जरूरत कुछ ज्यादा ही होती है। इसमें क्या साधें और क्या छोड़ें, समझना मुश्किल है। इसको कैसे, कितना और कहाँ-कहाँ संपादित करें यह कोई किसी को नहीं समझा सकता। कौन सा शब्द और कौन सी पंक्ति अतिरिक्त है इसका पता लगाने का कोई उपाय नहीं। मुझे लगता है कि छंद से मुक्त होकर कविता आसान नहीं, पहले की बनिस्बत ज्यादा कठिन और जटिल हो गयी है। तुकों के भी जितने प्रयोग हो सकते थे, उन्हें मुझसे पहले के कवियों ने ही निःशेष कर दिया है। इसलिये उसमें किसी नयी संभावना को तलाशना आसान नहीं।

कई बार मुझसे पूछा जाता है कि आपकी रचना-प्रक्रिया क्या है? मैंने इस प्रश्न के बारे में कई बार सोचने की कोशिश की। लेकिन हर बार मेरे मन में एक सवाल उठता है कि क्या सचमुच कोई कवि अपनी कविता की रचना प्रक्रिया को जान सकता है? मुझे लगता है कि अगर मैं अपनी रचना प्रक्रिया को जान लेता तो मैं कविता का एक कारखाना खोल सकता था। मैं कभी नहीं समझ पाता कि कोई कविता कब, कहाँ, किस तरह जन्म लेती है। अक्सर लिखने से पहले जैसी मुझे अपने अंदर वह महसूस होती है वैसी लिखे जाने के बाद अक्सर नहीं लगती। कविता के लिखित ड्राफ्ट से मैं अक्सर असंतुष्ट हो जाता हूँ। कई बार उसे सुधारने की कोशिश में मैं उसे और ज्यादा बिगाड़ देता हूँ।

मुझे लगता है कि कविता लिखना हमेशा असंतुष्ट करने वाला और अपर्याप्त लगने वाला काम है। जीवन की सच्चाइयाँ इतनी विराट और विकट हैं कि कितने ही हाथ फैलाये उसे पूरी तरह समेट नहीं पाती। शायद इसीलिये वह बार-बार लिखी जाती है और उसकी निरंतरता और आवश्यकता कभी खत्म नहीं होती।

परिन्दे पर कवि को पहचानते हैं

सालिम अली की किताबें पढ़ते हुए
मैंने परिन्दों को पहचानना सीखा
और उनका पीछा करने लगा
पाँव में जंजीर न होती तो अब तक तो
न जाने कहाँ का कहाँ निकल गया होता
हो सकता था पीछा करते-करते मेरे पंख उग आते
और मैं उड़ना भी सीख जाता।

जब परिन्दे गाना शुरू करते
और पहाड़ अंधेरे में डूब जाते
ट्रक ड्राइवर रात की लम्बाई नापने निकलते
तो अक्सर मुझे साथ ले लेते
मैं परिन्दों के बारे में कई कहानियाँ जानता था
मुझे किसी ने बताया था कि जिनके पास पंख नहीं होते
और जिन्हें उड़ना नहीं आता
वो मन ही मन सबसे लम्बी उड़ान भरते हैं
इसलिए रास्तों में जो जान पहचान वाले लोग मिलते
मुझसे हमेशा परिन्दों की कहानियाँ सुनाने को कहते।

दोस्त जब पूछते थे तो मैं अक्सर कहता था
मुझे चिट्ठी मत लिखना
परिन्दों का पीछा करने वाले का
कोई स्थाई पता नहीं होता
मुझे क्या खबर थी कि एक दिन ऐसा आयेगा
जब चिट्ठी लिखने का चलन ही अतीत हो जायेगा।

न जाने किन कहानियों से उड़ान भरते
कुछ अजीब से परिन्दे हमारे पास आते थे
जो गाते-गाते एक लपट में बदल जाते
और देखते-देखते राख हो जाते
पर एक दिन बरसात आती
और वो अपनी ही राख से फिर पैदा हो जाते।

पता नहीं हमारे आकाश में उड़ने वाले परिन्दे
कहानियों से निकल कर आये परिन्दों के बारे में
कुछ जानते थे या नहीं
उनकी आँख देख कर लेकिन लगता था

कि उन कवियों को परिन्दे पर जानते हैं
जो कुकनुस जैसे हजारों काल्पनिक परिन्दों की
कहानियाँ बनाते हैं।

पाँव में जंजीर न होती तो शायद
एक न एक दिन मैं भी किसी कवि के हथ्थे चढ़ कर
ऐसे ही किसी परिन्दे में बदल गया होता!

आईना

घर में एक आईना है
आईने में एक आदमी रहता है
जो हू ब हू मेरी तरह दिखता है
सारी हरकतें मेरी तरह करता है
मेरी ही तरह उठता-बैठता है चाय पीता है
अखबार पढ़ता है
हरी मिर्च को दाँत से काटता है
और सी सी करता है
यहाँ तक के वह मेरी ही तरह
कविता भी लिखता है

मेरी तरह तैयार होता है जूते पहनता है
लेकिन जब मैं घर से बाहर जाता हूँ
वह मेरे साथ-साथ घर से बाहर नहीं आता
मैं नौकरी बजाने जाता हूँ दिन भर खटता हूँ
सौदा सुलुफ लेने बाजार जाता हूँ
बिजली का, पानी का बिल भरने जाता हूँ
घर में पड़ा पड़ा वह दिन भर क्या करता है
मुझे नहीं पता
लेकिन थकाहारा जैसे ही मैं उसके सामने आता हूँ
वह भी मेरी ही तरह थके हारे होने का
स्वांग करता है।

मैं कहता हूँ कि कुछ दिन के लिए
मैं तुम में हो जाओ
पर वह दुष्ट इस इच्छा को भी
मेरी ही तरह दोहराता है
सिर्फ!

प्रतीक्षा

जब कहीं किसी निर्धारित समय पर पहुँचना हो
 मैं अक्सर वक्रत से पहले पहुँच जाता हूँ
 वहाँ कोई नहीं होता जो मेरी प्रतीक्षा कर रहा हो
 मैं बाद में आने वालों की प्रतीक्षा करता हूँ
 यह हड़बड़ी शायद मुझे मेरे जन्म के साथ मिली है
 कहा जाता है, मैं आठ मासा ही चला आया था कोख से बाहर
 धरती और आसमान की जब आँख लगी ही थी
 उसी समय मेरी पहली रूलाई ने उनके सपनों में खलल डाला
 कभी-कभी मुझे लगता है मैं मनुष्य नहीं,
 सिर्फ एक प्रतीक्षा हूँ
 किसी कलांत प्रजापति के शरीर से अग्नि के प्रकट होने की प्रतीक्षा
 सरोवर के किनारे साइबेरिया से आने वाले पक्षियों की प्रतीक्षा
 प्रजनन से पहले कौव्यों के घोंसला बनाने की प्रतीक्षा
 विलम्ब से आने वाली बारिश की प्रतीक्षा
 नींबू के वृक्ष पर फूल के फल बनने की प्रतीक्षा
 रंगों से आकृति के आकार लेने की प्रतीक्षा
 मृत्यु को पार कर मन के चन्द्रमाँ बन जाने की प्रतीक्षा
 खुर के निशानों का पीछा करते हुए
 खोये हुए जानवरों के मिल जाने की प्रतीक्षा
 काँच की अल्मारी में रखा मैं एक जोड़ी जूता हूँ
 जिसके तले में अभी तक कंकर, धूल, कीचड़ कुछ नहीं लगा है
 जिसने न क्वाँर की धूप देखी है, न भादों की बरसात
 जिसने न बसंत का खिलना देखा है, न पूस की रात
 मैं तो अभी अपने को पहन लिये जाने और
 यात्रा पर निकल पड़ने की प्रतीक्षा कर रहा हूँ
 देखने हैं कितने मुल्क, कितनी सड़कें नापना है मुझे
 कितने नदी नाले और झरने अभी मुझे हैं पार करने
 क्या मैं एक महाकवि के अकेलेपन के बाहर
 कहीं दूर खड़ी उम्मीद की नाँव हूँ
 कभी-कभी मुझे लगता है
 मैं बहुत दिनों से बंद पड़ी किताब हूँ
 जिसके पन्ने अपने को पलटते जाने के लिये
 किसी उंगली की प्रतीक्षा कर रहे हैं
 किसी आँख की प्रतीक्षा कर रहे हैं जो

उसके अक्षरों पर ठहर सके
 मैं अपने को पढ़े जाने की प्रतीक्षा हूँ
 जो जोर-जोर से उच्चरित करें मेरे शब्दों को
 असुरों की नींद टूटे और वो उसे अपने पाप से बिद्ध कर दें
 फिर ऐसे कटुवचनों का जन्म हो
 जो बिना हिचक झूठ को झूठ, अन्याय को अन्याय कह सकें
 मैं शब्दों में अर्थ के पैदा होने की प्रतीक्षा हूँ
 मुझे क्षमा करें, शायद मैं निर्धारित समय से पहले आ गया हूँ
 समय तो यहाँ थक कर बैठा सुस्ता रहा है
 मैं उसके उठने और फिर से चल पड़ने की
 प्रतीक्षा हूँ!
 मैं नहीं जानता वो बाकी लोग कब तक पहुँचेंगे
 जिनकी आँखों में अब भी दुनिया को बेहतर बनाने का
 स्वप्न है
 फिलहाल तो...
 मैं उनके आने की प्रतीक्षा हूँ।

छेघरों का गाना

घर के बसने से ज्यादा उसके उजड़ने उखड़ने की कथाएँ हैं
 कथाओं में बिंधी अनगिनत स्मृतियाँ, सपने और सिसकियाँ
 कितनी ठोकरें, कितनी गालियाँ, कितना अपमान
 हमारे बर्तनों में लगे दोंचे
 और हमारी चप्पलों की उखड़ी हुई बद्दियाँ
 हमारे विस्थापन की कथा का सारांश हैं।
 हमारी स्मृति में अपना कहने को ज़मीन का कोई टुकड़ा नहीं
 कि जिस पर तामीर हो सके एक झोपड़ा भी
 अनगिनत रंग-बिरंगे मिट्टी के टुकड़ों से बनी
 ज़मीन की एक कथरी है
 इसी की पोटरी लादे अपने सपनों में
 हम भाग रहे हैं यहाँ से वहाँ
 अलग-अलग बम्बों का पानी पीते
 शहर दर शहर
 हमारा समय बेघरों का गाना है!
 दिन, दोपहर, रात-बिरात कभी भी आ जाते हैं वो
 कहते हैं खाली करो, खाली करो, खाली करो ज़मीन

सरगम के सुर साधे

कि इस ज़मीन पर महाजनों ने धर दी है अपनी उंगली
अब यह ज़मीन उनकी हुई
अब यहाँ सोन चिरैया आयेगी
कहना चाहते हैं हम कि मालिक सोन चिरैया
सिर्फ कथाओं में होती है
लेकिन तब तक वो गला फाड़ कर गाने लगते हैं
सोन चिरैया आयेगी
सोन चिरैया गायेगी
घोंसला यहीं बनायेगी
अंडे देगी, सेएगी,
बच्चों को उड़ना गाना यहीं सिखाएगी
देस बिदेस से देखने को पर्यटक आयेंगे
खाली करो, खाली करो, खाली करो ज़मीन
रुक गया है चालीस गाँवों का सारा काम काज
किसी मिथक कथा से निकले दैत्य की तरह
बढ़ा चला आ रहा है बुलडोजर
मुआवजे की कतार में भी खड़े हैं उन्हीं के कारिन्दे
हमारे छप्पर ही टीन, हमारी खिड़की, हमारा ही दरवज्जा लिए
ऐलान करती घूम रही है गाड़ी
जल्दी करो... जल्दी करो...
खाली करो ज़मीन
कि सोन चिरैया के आने का समय हुआ...
खाली करो ज़मीन!

चुप और बातें

चुप और बातें एक दूसरे के अगल बगल रहती थीं
एक के हटते ही दूसरी उसकी जगह आ जाती
बातों को जब नींद आती
चुप उसके सिहराने बैठ जाती
उन पलों में तो बातें भी लगभग
चुप की तरह ही दिखती थी
बातें जब थक जातीं
तो सुस्ताने को चुप के पास आकर बैठ जाती कुछ देर को
चुप शब्दों के अपव्यय को रोकती थी
और धीरे-धीरे बातों के नये अर्थ को खोलती थी
दोनों में ऐसी दाँत काटी दोस्ती थी
कि वे एक दूसरे के बगैर रह ही नहीं सकती थीं।

संपर्क : 11, निराला नगर, भदभदा रोड,
भोपाल- 462003, मो. 09424579277

गौरव भारती

एम. फिल. हिंदी

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, दिल्ली

शायद कोई पागल बहा होगा

एक अघेड़ इंसान
लंगड़ाते हुए चल रहा था
चलते-चलते रुक रहा था
लगा रहा था हिसाब
अपनी गंदी लंबी सिकुड़ी उँगलियों पर
न जाने किस चीज का
मैंने रुककर पूछा
क्या गिन रहे हो
उसने मुझे ऊपर से नीचे तक टटोला
मेरी खहर झोली पर आँख गड़ाए
मुँह चबाते हुए बोला
दिखता नहीं क्या
सड़क नाप रहा हूँ
दूर-दूर तक फैली सड़क
लंबी चौड़ी सड़क
रोज नापता हूँ
मेरे साथ नापोगे तुम भी
रहने दो तुमसे न होगा
मैंले बेतरतीब बाल खुजाते हुए
रुककर उसने एक सवाल पूछा
लेखक हो क्या
मैंने हँसकर कहा
हाँ, लिख लेता हूँ कोशिश में हूँ
लेकिन तुमने कैसे पता लगाया
सवाल काटते हुए उसने फिर पूछा
किस जमात के लेखक हो

मने किसके लिए लिखते हो
कौन सा झंडा
अकबकाते हुए मैंने कहा
सबके लिए लिखता हूँ
लेखक हूँ नेता नहीं
उसने हँसता हुआ कहा
फिर दो कौड़ी के लेखक हो तुम
चलो मेरी तरह सड़क नापोगे
बहुत मजा आयेगा
मैं चिढ़ गया
थोड़ा खुद को संभालते हुए
उम्मीद की मोमबत्ती जलायी
और बोला एक दिन मुझे पढ़ा जायेगा
तुम देख लेना
अच्छे पाठक जिंदा हैं अभी
वो पढ़ेंगे मुझे
तुम देख लेना
उसने एक सलाह दी
अपने गाल को लंबे नाखूनों से खुजाते हुए
हँसते हुए बोला
कोई झंडा थाम लो
मैंने पूछा, तिरंगा
उसने कहा वो तो दो रुपये में मिलती है
मैंने कहा फिर
उसने कहा अरे कोई भी
जिसकी बाजार में कीमत ज्यादा हो

नई पहल नया कदम

अब तुम तो लेखक हो
ज्यादा पता होगा
मैं तो सड़क नापता हूँ
लंबी-लंबी सड़क
हर जगह की सड़क एक जैसी नहीं होती
जैसी सड़क वैसे लोग
जितनी अच्छी सड़क
उतनी रफ़्तार
लोग रुकते कहाँ है तुम्हारी तरह इन
सड़कों पर
मुझे भी यह सड़क पसंद नहीं
कोई नहीं रुकता
गुम हो जाते है
क्षण भर में पता नहीं कहाँ
देहाती सड़कों पर चलते हुए लोग गुम
नहीं होते
यूँ अचानक
उन्हें देख सकते है जाते हुए
मुझे वो पसंद है
तुम्हें कौन सी सड़क पसंद है
उसने फिर पूछा
मैं चुप था
खामोश था
उलझ रहा था कहीं
कि अचानक उसने पूछा
मुझे नायक बनाओगे तुम
अपनी कहानी का
कैसे गढ़ोगे मुझे
मेरे किरदार को
मैं तो बस सड़क नापता हूँ
लंबी चौड़ी सड़क
तरह तरह की सड़क
मैं पलट रहा हूँ पन्ने सौन्दर्यशास्त्र के
गुण नायक के देख रहा हूँ

वह किरदार अभी भी
अनगढ़ है
उसके सवाल
गूँज रहे है
मेरे भीतर के नेपथ्य में
और बाहर एक ही जवाब है
शायद कोई पागल रहा होगा।

ग्रहण

बहुत दिनों बाद
डर लग रहा है
हाँ साहिब...
बहुत डर लग रहा है
नहीं नहीं...
रात के अंधेरे से नहीं
दिन के उजाले से, साहिब
उजाले में सब उजला होता है
काला मुजरिम उजला
काला नेता उजला
सब उजला सब जगह उजला
मैंने एक गुनाह कर दिया साहिब
सच बोल गया
काला सच उजाले में
सबके सामने
आखिरी पेशी में शायद न आ सकूँ
काला ढूँढ़ रहा है ग्रसने उजले को
ग्रहण लगने वाला है
यह लंबा चलेगा साहिब
दिन में अँधेरा
डरावना होता है
आदत तो नहीं होती
मैं भी डरा हूँ
आप भी डरिये।

संपर्क : 9015326408

अभिमत

पूनम सिंह

अपने जीवन के बीस वसंत सुनंदा ने माँ के आँचल में बिताए थे। विदाई के समय उन्हें खोयछे में बाँधते हुए माँ ने कहा था- “ये बीस वसंत तुम्हें हर पतझड़ में नया जीवन देंगे। धरोहर की तरह इन्हें सहेज कर रखना।” और सुनंदा ने बीस बसंतों से भरी पोटली को माँ का अंतिम देय समझ कर आज तक संभाले रखा है। पतझड़ के रूखे बयार से फटी अपने जीवन की बिवाइयों को वह उस पोटली के बासंती फाहो से सहलाती है- उसे चैन पड़ जाता है।

सुनंदा ने सोचा था जब उसकी बेटी ब्याह कर पराये घर जाने लगेगी तो वह भी उसके खोयछे में मायके के सभी बासंती दिनों को सहेज कर बाँध देगी ताकि मौसम के कठोर प्रहार को सहते वक्त खोयछे का एक-एक अक्षत फूल बनकर उसके ऊपर बिछ जायेगा। उसकी सुगंध उसके पोर-पोर में उतर जायेगी। लेकिन सुनंदा अवाक् रह गई जब उसकी बेटी शालिनी ने विदाई के दिन अपने खोयछे की गाँठ ढीली करके सारे अक्षत, फूल-दूब, हल्दी और बताशे माँ की गोद में डालकर कहा- “नहीं माँ, खोयछे में वसंत देकर मुझे पतझड़ मोल लेने को मत कहो- मैंने बचपन से देखा है इस घाटे के सौंद में किस तरह तिल-तिल कर तुमने अपना सब कुछ होम किया है- बदले में तुम्हारे हिस्से क्या आया? यह अस्तित्व आहुति का भस्मकुण्ड ही ना! उसी भस्मकुण्ड के नीचे एक दबी चिंगारी हूँ मैं, तुम मुझे राख बनाने का संस्कार मत सौंपो माँ, आशीर्वाद दो कि नए जीवन में एक संवेदनशून्य वस्तु नहीं- व्यक्ति के रूप में मैं अपनी अहमियत बना सकूँ-”

सुनंदा एकटक बेटी का मुँह देखती रह गई। उसकी बेटी पिंजरे वाली मुनिया बनने को तैयार नहीं। उसकी आँखों में उन्मुक्त आकाश का सौंदर्य सपना बनकर पल रहा है। सुनंदा कैसे कहे उससे कि आकाश बाँहों में भरने की चीज नहीं इसलिए किसी औरत के सपने में उसका आना कभी शुभ नहीं होता।

“‘सारा आकाश’ का भ्रम एक मरीचिका है शालू- उसके पीछे मत जा- मत जा मेरी बच्ची।” सुनंदा की आवाज हिचकियों में घुट कर रह गई। आशंकित हृदय से वह पराये घर जाती बेटी को देखती रही- उसके कलेजे पर कोई वजनी पत्थर बैठ गया था।

.....

“शालिनी, मेरी कमीज के बटन टूटे हैं- पहले इन्हें टाँको भाई।”

“मेरे मोजे नहीं मिल रहे हैं, -ढूँढो जरा।”

“रूमाल तो तुमने धोये ही नहीं- कभी किसी चीज का ख्याल नहीं रखती- अजीब औरत हो तुम भी।”

“यह रोज-रोज क्या तुम एक ही तरह का सर्वोदयी खाना बनाकर रख देती हो- मुझसे नहीं खाया जाता यह घास पात- हटाओ इसे।”

“ओफ शालिनी मैंने कितनी बार कहा है तुमसे, तुम्हारे यह नाच-गाने का शौक मुझे बिल्कुल पसंद नहीं है। आखिर अब रियाज करके तुम करोगी क्या? माना कि राष्ट्रीय स्तर की नृत्य प्रतियोगिता में तुम अव्वल आयी हो पर मत भूलो कि अब तुम एक ऑफिसर की पत्नी हो- किसी साधारण घर की जरूरतमंद लड़की नहीं। मैं तुम्हें कहीं प्रोग्राम देने स्टेज पर नहीं उतरने दूँगा- इसे कान खोलकर सुन लो और ये अपने रियाज वियाज बंद करो।”

“सुनो शालू! आज शाम मैंने बॉस को डिनर पर बुलाया है। तुम्हें तो पता है मेरे प्रमोशन का सारा कुछ उन्हीं पर निर्भर है। थोड़ा एटेंशन लोगी तो बहुत कुछ हो सकता है। डेंट बी सिरियस यार! टेक इट इजि। जमाने की रफ्तार के साथ चलना सीखो।”

शालू अंततः तुम एक औरत हो- पुरुष की अनंत अपेक्षाओं और अनिवार्यताओं से बँधी एक जीवित वस्तु। तुम क्यों नहीं स्वीकारना चाहती इसे? स्त्री का अस्तित्व उस पतंग की तरह है जिसकी डोर खिंचने या ढील देने वाला पुरुष उसके उड़ने की सामर्थ्य को हमेशा अपने नियंत्रण में रखता है। परकटे पक्षी की नियति को लेकर जीती है स्त्री। इसे चाह कर भी नहीं नकार सकती तुम।

मेरे साथ आओ और हर घर में झाँक कर देखो- स्त्री सबसे पहले चुल्हे में जलती मिलेगी- बहुत सहज और शांत भाव से मुस्कुराती हुई। जलती हुई औरत हँसती क्यों रहती है- जानती हो शालू?

उधर देखो- किसी सरनेम कवर पृष्ठ को अपने ऊपर लपेट कर कितनी खुश और तुष्ट है औरत। पूरी की पूरी दुनिया उसकी बाँहों में है- इसी घर के भीतर। सिंदूर से भरी मांग, खनकती चूड़ियों से सजी कलाईयाँ और गले में झुलता मंगलसूत्र, माथे पर लरजता टीका, पैरों की गति को बांधे रून्झन पाजेब, जड़ीदार साड़ी की खूंट से बंधी मलकियत के खजाने की चाभी और गर्भ में पलता संपूर्ण औरत होने का एहसास- और क्या चाहिए शालिनी- एक और को इससे अधिक और क्या चाहिए बोलो?

संपूर्ण और खूंट से बंधकर पागुर करती गाय सबको अच्छी लगती है शालू- तुम्हें क्यों नहीं लगती?

“अरे शालिनी! इतनी बड़ी खुशखबरी और तुमने इसे सेलिब्रेट नहीं किया? सुभाष कंपनी के मैनेजिंग डायरेक्टर हो गये और तुम चुपचाप इसे पचा गई? पर हम मानने वाले नहीं हैं, मेहता ने पूरे एपार्टमेंट में यह खबर फैला दी है थोड़ी ही देर में देखना मिसेज भाटिया, मिसेज खन्ना, मिसेज राय और मिसेज वर्मा तुम्हारे पास पहुँच रही हैं। अभी अभी उन्होंने मुझसे कहा है।”

मनीषा की बात अभी खत्म भी नहीं हुई थी कि पूरी की पूरी मंडली ड्राइंग रूम में समा चुकी थी। कुछ देर पहले

वाली शालिनी क्षण भर में कछुए के भीतर सिमट गई थी और उसकी जगह सहज, सौम्य, सुंदर सुघड़ आधुनिका मिसेज सुभाष देशमुख अपनी चिर परिचित मुद्रा में सखियों के स्वागत में जुट गई थी। पूरी दोपहर एक अच्छी खासी टी पार्टी चलती रही। गर्म पकौड़े और कॉफी की चुस्कियों के साथ सबने सण्डे का दिन भोज के लिए तय किया और एकजुट होकर मन पसंद व्यंजनों के मेनू भी बना डाले। मलाई कोफ़्ते, कटहल दो प्याजा, परवल की भाजी, अनानास की चटनी, रायता और फ्रूट सलाद- सर्वसम्मति से पास हो गया मेनू। स्वीट्स में मिसेज भाटिया में ने आइस्क्रीम सजेस्ट किया पर मिसेज राय ने रसमलाई की इच्छा जाहिर की। शालिनी ने बड़ी सहजता से दोनों की पसंद को अहमियत देते हुए हँसकर कहा- “दोनों ही तर आइटम्स हैं- जब तर ही होना है तो पूरी तरह क्यों नहीं।” जोरदार ठहाका लगा था इस बात पर।

“वाह शालिनी! क्या तर मिजाज पाया है तुमने भी।” मनीषा उन्मुक्त कंठ से सखी की बड़ाई कर गई थी।

सबके विदा होने पर शालिनी कछुए की खोल से बाहर निकलकर खुद से पूछ रही थी- “मैनेजिंग डायरेक्टर की कुर्सी पर कौन बैठा है शालू? सुभाष या तुम्हारा खंडित और लांछित अहं?” हवा के तेज झोंके से ड्राइंग रूम का खुला दरवाजा ‘भड़ाम’ की आवाज के साथ बंद हो जाता है। शालिनी अपने आहत अहं को कलेजे से लगाए उद्भ्रांत- सी उस बंद दरवाजे को एकटक देखती रह जाती है।

“सुभाष”- शालिनी ने बहुत धीरे से उसे पुकार कर कहा- “मैं तुमसे कुछ कहना चाहती हूँ।”

“तो कहो ना।”

“नहीं सुभाष- ऐसे नहीं बहुत गंभीर रूप से कहना चाहती हूँ, टेक इट सीरियस!”

“ओप्फ! डार्लिंग, क्यों बेवजह सीरियस मूड बनाना चाहती हो- आओ, मेरे करीब आकर मुझे प्यार करो- मेरे भीतर समा जाओ- मुझे अपने में लीन कर लो। अभी तुम बहुत सुंदर दीख रही हो- तुम पर प्यार आ रहा है शालू- मेरे पास आओ- नो सीरियस टॉक, नो सीरियस मूड, शालिनी लव इच अदर।”

सुभाषा ने हाथ बढ़ाकर उसे अपनी ओर इतनी जोर से

खींचा कि वह पूरी-की पूरी उसके ऊपर आकर गिरी। एक जान लेवा बंधन उसे पूरी तरह अपने गिरफ्त में लिए जा रहा था और वह लाचार और परेशान सी उस कसान से बाहर आने के लिए छटपटा रही थी। वह कुछ कहना चाह रही थी पर उसके होंठ दांतों के जबरदस्त आघात से सुन्न पड़ते जा रहे थे। उन होंठों पर लरजते शब्दों को कोई बूँद-बूँद कर पीता जा रहा था- शालिनी का कंठ भीषण प्यास से सूख रहा था और वह किसी की भूख और प्यास के बीच अपने को एक निर्जीव ग्रास की तरह महसूस कर रही थी—

“शालिनी! एक बात पूछूँ? तुम इतनी ठंड क्यों हो यार? मैं जब भी तुम्हें स्पर्श करता हूँ तुम एकदम जड़ हो जाती हो- कोई उत्तेजना नहीं, कोई आवेग नहीं, कोई प्रतिक्रिया नहीं- जैसे अजंता, एलोरा की प्रस्तर शिलाओं के बीच मैं अकेला अपना प्रणय निवेदन कर रहा होऊँ।”

शालिनी एक फीकी हँसी हँसती है बस!

“शालिनी, मैं तुम्हें पूरी तरह पाना चाहता हूँ- रक्त की लय बनकर तुम्हारे सारे शरीर में दौड़ना चाहता हूँ। तुम्हारे संपूर्ण अस्तित्व को अपने में एकाकार करना चाहता हूँ, तुम्हारे भीतर मैं केवल ‘मैं’ होना चाहता हूँ शालिनी- केवल ‘मैं’।”

सुभाष का ‘मैं’ शालिनी के भीतर एक खंजर की चुभन बनकर उतरता चला जाता है, जिसकी तेज धार से लहलुहान होकर शालिनी का ‘मैं’ अकस्मात् चोट खाये विषधर की तरह फुफकार उठता है।

“सुभाष, यह ‘मैं’ केवल पुरुषों को विरासत में मिली चीज नहीं, स्त्रियों की भीतर भी यह भीगी लड़की की तरह रिसता और धुँआता रहता है। खुली हवा के रूख पर तुम तो इसलिए प्रज्वलित हो पर गर्व न करो- तुम्हारा जलना राख की परिणति है और हमारा रिसना और धुँआना चिरंतन जीवित अग्नि का पर्याय।”

“तुम यह क्या उजुल-फिजुल बक रही हो शालिनी- मेरी समझ में तो कुछ भी नहीं आ रहा है।”

“यही तो दुःख की बात है सुभाष कि पुरुष जान बुझकर इसे समझना नहीं चाहता। अगर समझ जाए तो उसके अहं को ठौर कहाँ मिलेगा?”

“नहीं शालिनी, मैं तुम्हें समझना चाहता हूँ क्योंकि मैं

तुम्हें संपूर्णता में पाना चाहता हूँ।”

“सुभाष किसी को पूर्णता में पाने का अर्थ जानते हो?”

“हाँ शालिनी, तुम्हारे तन-मन और मस्तिष्क तीनों पर केवल मेरा अधिकार हो। इस रूप में मुझे मिलो, मैं यही चाहता हूँ।”

“पर ये तीनों तो केवल प्रेम को समर्पित हो सकते हैं- किसी अधिकार को नहीं।”

“क्या मैं तुम्हें प्यार नहीं करता?”

“नहीं सुभाष, तुम मुझ पर प्यार नहीं- अधिकार जताते हो। तुम्हारे अधिकार की सीमा में मैं तुम्हारे लिए एक वस्तु के सिवा कुछ भी नहीं। तुम्हारी अनंत अपेक्षाओं और अनिवार्यताओं से बँधा मेरा तन अग्नि के सात फेरे लगाकर परंपरागत संस्कार के अधीन तुम्हारे लिए बार-बार समर्पित है पर मेरा मन और मस्तिष्क मेरा ‘मैं’ है सुभाष, जो तुम्हारे अधिकार के दायरे से पूर्णतः मुक्त है।”

सुभाष के ‘अहं’ को कहीं गहरी ठेस लगी। क्षण भर के भीतर वह सारा रस सूख गया और एक पुरुष का पुरुषत्व दहाड़ उठा- “मैंने तुम्हें घर दिया, ऐशो आराम की सारी सुविधाएँ दीं, सोसाइटी में मान-सम्मान दिया, तुम्हारी हँसी, तुम्हारे आँसू पर अपना सब कुछ अर्पित किया और तुम्हारा ‘मैं’ आज मेरे ही विरुद्ध मोर्चा लेने को तत्पर है? आखिर चाहती क्या हो तुम शालिनी?”

“वह सब जो तुम चाहते हो।”

सुभाष अजनबी आँखों से देखता रह गया।

“कहाँ गई थी शालिनी?”

“डॉक्टर के पास।”

“क्यों? तबियत तो ठीक है?”

“हाँ!”

“फिर जाने की वजह?”

“चेकप के लिए गई थी।”

“कोई खास बात है क्या?”

“हाँ! मेरे पूरे शरीर में तुम्हारे आरोपित नाम का जहर फैलता जा रहा है। मैं बहुत बेचैनी महसूस कर रही हूँ सुभाष। मैं वैसी माँ नहीं बनना चाहती जिसने उस क्षण को जिया ही न हो जो चरम कहलाता है। फिर जो ख़्बी होने की सार्थकता को अपने भीतर एक नासूर की तरह पाल रही

हो। मैं व्यभिचार के इस दंश से मुक्त होना चाहती हूँ सुभाष- मैं ऐसे शिशु को जन्म नहीं दे सकती जो मात्र एक पुरुष के भीतर की उष्णता हो और कुछ भी नहीं।”

“शालिनी, तुम पागल तो नहीं हो गई हो! क्या एक पति अपनी पत्नी से व्यभिचार करता है? क्या भारतीय संस्कृति में वैवाहिक संबंध एक व्याभिचार दृष्टांत है? तब तो भारत का हर बच्चा व्यभिचार से उत्पन्न अनचाही संतान है। हर माँ को उसके गर्भ में ही उसका गला घोट देना चाहिए क्यों?”

शालिनी एक असहाय पीड़ा से बिलबिला उठी “चुप करो सुभाष! अपनी ओछी घृणित मानसिकता से बाहर आकर देखा- मेरे भीतर झाँको- इस बियावान में एक टेर बनी किसे हेर कर रही है सदियों से एक अभिशप्त नारी? बोलो सुभाष! माँ, बहन, बेटी, पत्नी और प्रेयसी के रूप में जो नारी इस धरती पर जन्म देने से लेकर जीवन-पर्यन्त कई रूपों में तुम्हें पूर्ण और समर्थ बनाती है- उसे इन रिश्तों से पृथक् कभी तुमने कुछ और भी महसूस है? रिश्तों से इतर उसका कोई नाम, कोई चेहरा, तुम्हें कभी क्यों नहीं दिखाई देता सुभाष?” एक क्षण रुककर शालिनी ने बहुत निरीह और कातर स्वर में कहा- “मैं रिश्तों में जीवित नहीं रहना चाहती सुभाष- मैं अनुभूतियों में जीना चाहती हूँ उस ‘क्षण’ को जीना चाहती हूँ, जो तुम्हारे भीतर के ‘अहम्’ और मेरे अंदर की इस पीड़ा से भी बड़ा है- शाश्वत है, चिरंतन है- मोक्ष का विराम है वह क्षण। अपने गर्भ में मैं उसी क्षण को रूपायित करना चाहती हूँ, सुभाष- किसी आरोपित नाम को नहीं। काश! तुम जान पाते मेरे भीतर के इस हाहाकार को।”

शालिनी फूट-फूट कर रो पड़ी। सुभाष हैरान और परेशान-सा उसे देखता रहा- क्या स्त्री सृष्टि की सबसे जटिल ग्रंथि है?

“मिसेज भाटिया, आपने कुछ सुना? शालिनी हॉस्पिटल में एडमिट है। सुना है उसने अपना एबार्शन करा लिया है।”

मिसेज वर्मा की इस सूचना पर मिसेज भाटिया एकबारगी चौंक गई- “अरे उसने ऐसा क्यों किया- पहला बच्चा था- इतनी पढ़ी-लिखी समझदार लड़की यह क्या कर गई?”

मिसेज वर्मा ने एक और तीर छोड़ा- “मुझे तो पहले

ही शक था- यह लड़की हसबैंड के साथ एडजस्ट नहीं कर रही है- देखा नहीं आपने, उस दिन अपने पति के प्रमोशन की पार्टी में वह कैसी तटस्थ-सी थी- सुभाष का सारा एटेंशन उसी की तरफ था। जरूर दोनों के बीच कुछ हुआ था उस दिन।”

“आप तो बेकार में शक करती हैं मिसेज वर्मा- बहुत थक गई थी बेचारी, इसलिए हँस बोल नहीं रही थी।”

‘देखिए, मिसेज भाटिया, बीस वर्षों की गृहस्थी का अनुभव है मुझे- मैं एक नजर में भाँप सकती हूँ, किस घर में कहाँ उथल-पुथल है- समझें आप? उस दिन मनीषा के ‘मैरेज डे’ पर मेरे सामने ही उसने कहा था- ‘शादी की वर्षगाँठ क्या इतनी धूमधाम से मनाने की चीज है? अपने सर्वनाश पर स्त्रियाँ इतना बड़ा जश्न क्यों मनाती हैं?’ मनीषा तो खिलखिलाकर हँस पड़ी थी पर शालिनी की आँखें तरल थीं।’

“छोड़िए इन बातों को मिसेज वर्मा, हमें शालिनी को देखने अस्पताल चलना चाहिए। उस लड़की के लिए पता नहीं क्यों मन में बहुत आदर है। बड़ी सुरुचि संपन्न, वेल विहेब्ड लड़की है। क्यों ऐसी बेवकूफी कर गई, समझ में नहीं आता।” मिसेज भाटिया के स्वर में अपनापन का दर्द था।

उसके स्वर की आर्द्रता का प्रभाव मिसेज वर्मा पर नहीं पड़ा। वह कुछ उपेक्षित भाव से बोली- “देखना क्या है उसे, खुद का करा कराया है सब कुछ- नियति की मार तो है नहीं कि जाकर कुछ सांत्वना दें। बेचारा सुभाष कैसा लगा होगा उसे? कैसी निर्लज्ज लड़की है- छी:।”

“वैरी सॉरी, मिस्टर देशमुख, मुझे न चाहते हुए भी आपकी पत्नी का केस हैंडिल करना पड़ा। कल वह जिस तरह विक्षिप्त अवस्था में मेरे पास आई थी, उसे देखकर मैं अवाक् रह गई। आपकी फैमिली डॉक्टर होने के कारण पहले मैंने उसे समझाने की बहुत कोशिश की पर उसने सबके अंत में बस एक ही वाक्य कहा कि अगर आप मुझे इस दंश से मुक्त नहीं कर सकतीं तो मैं अपने आपको खत्म कर लूँगी।” मैंने फोन पर आपसे संपर्क करने की कोशिश की तो पता चला कि आप दूर पर बाहर गए हैं। देन आई हैव टू ऑपरेट हर बिकॉज हर कंडीशन वॉज सो क्रिटिकल। उसने गर्भ गिराने की दवा खा ली थी- आई

हैव टू सेव हर लाइफ एट एनी कॉस्ट।”

सुभाष ने पागलों की तरह चीखकर कहा- “डिड शी डेयर टू कील माई चाइल्ड (क्या उसने मेरे बच्चे को मार डालने का साहस किया) मैं उसे मार डालूँगा डाक्टर- शी हैज टार्चड मी।”

डॉ. हर्षा ने सुभाष की दोनों बाँहें थामकर उसे संयत करने का प्रयास किया- “रिलेक्स मि. देशमुख, यह टेंस होने का समय नहीं है। आप अपने को संभालिए प्लीज।’ ठंडे पानी का एक गिलास उसकी ओर बढ़ाते हुए डॉ. हर्षा ने कहा।

थोड़े समय के अंतराल के बाद डॉ. ने ही चुप्पी तोड़ी- “मि. देखमुख, मुझे पूछना तो नहीं चाहिए पर एक दोस्त की हैसियत से मैं एक बात आपसे पूछना चाहती हूँ। आखिर आपके बीच ऐसी टेंशन का कारण क्या है? शालिनी को विगत चार वर्षों से आपके साथ देख रही हूँ। ऐसी सुंदर, सुशील, पढ़ी-लिखी कलर्चर्ड लड़की अचानक ऐसी विस्फोटक कैसी हो गई? मैंने तो उसे कभी जोर से बोलते भी नहीं सुना।”

“डॉक्टर, मैं स्वयं नहीं जानता वह किस धातु की बनी है। मैंने उसे हमेशा वह सब कुछ दिया जिसे पाकर कोई भी स्त्री खुश और संतुष्ट रह सकती है पर पता नहीं इसकी मानसिक संरचना कैसी है- यह पति पत्नी के संबंध को भी व्यभिचार और बलात्कार की तरह महसूसती है। पता नहीं जीवन से वह कौन सा क्षण छीनना चाहती है, उसे अपने भीतर आकार देना चाहती है- आई कुड नेवर अंडरस्टूड इट।

“कभी-कभी तो मुझे लगता है कहीं से असामान्य भी है- बिल्कुल तटस्थ और अशरीरी। पत्नी के रूप में जिसे पाकर भी मैं पा नहीं सका हूँ। एक डॉक्टर के रूप में आप मेरी स्थिति बखूबी समझ सकती हैं कि हाउ कुड आई बियर ऑल दिस। आप ही सोचिए, उसका यह कितना बड़ा दुःसाहस है कि मेरे पीछे मेरे आगत शिशु की निर्मम हत्या करके भी वह बिना किसी अपराध भाव के बेशर्मी से मेरे सामने जीवित है। क्या ऐसी स्त्री को मैं दुबारा संरक्षण

दे सकता हूँ? बोलो डॉक्टर! हाउ केन आई टालरेट हर।” आवेश के कारण सुभाष का पूरा शरीर थर-थर काँप रहा था, आँखें पलाश के फूल की तरह आरक्त हो गई थीं।

वे आँखें डॉ. हर्षा के भीतर नश्वर की तरह उतरती चली गई। जिसकी चुभन से भीतर का कोई पुराना नासूर फट गया। असह्य पीड़ा से बिलबिलाकर डॉ. हर्षा चीख पड़ी- “बस कीजिए मि. देखमुख, अब और कहने की जरूरत नहीं। जहाँ सागर को सोख लेने की प्यास हो वहाँ शबनम की एक बूँद कोई मायने नहीं रखती। काश, आप समझ पाते किसी स्त्री के दारुण प्यास को।”

सुभाष इस चोट से तिलमिला गया- जैसे किसी ने उसके जलते जख्म पर गर्मतेल की बूँदें टपका दी हों।

“ओह डॉक्टर, तो आप भी उसी की पक्षधर हैं। तो मेरा भी निर्णय सुन लीजिए मैडम, हॉस्पिटल से डिस्चार्ज होकर वह जहाँ चाहे जाए पर मेरे घर के दरवाजे पर हरगिज दस्तक न दे- उससे कह दीजिएगा। वरना धक्के मारकर बाहर निकाल दूँगा।”

हर्षा के भीतर कहीं एक निःशब्द धमाका हुआ। वह अंदर तक हिल गई। कुछ कहने के लिए उसने मुँह खोला ही था कि अंदर के कमरे से लड़खड़ाते कदमों से शालिनी बाहर निकल आई और उत्तेजना में बाहर जाते हुए सुभाष को पुकार कर उसने बहुत संयमित स्वर में कहा- “ठहरो सुभाष, जिस बंद दरवाजे को खोलने के प्रयास में मैंने अपने मातृत्व तक को दांव पर लगा दिया, उस लौह कपाट पर दुबारा सिर पटकने मैं फिर आऊँगी- ऐसा तुमने सोच कैसे लिया? तुम्हारे आरोपित नाम के दंश से मुक्त होकर मैं अब वह स्त्री देह नहीं जिसे संरक्षण की जरूरत है। अब मैं स्वयं अपने-आपको संरक्षण दे सकती हूँ। तुम अपनी सोचो सुभाष- तुम्हारे आहत अभिमान को संरक्षण देने वाली, फिर कोई स्त्री ही होगी- जाओ और तुष्ट करो अपने खंडित अहं को उस लौह कपाट के भीतर।”

हर्षा ने महसूस किया- सुभाष का संपूर्ण अस्तित्व शालिनी के चारों ओर चीथड़ों में बिखर गया है।

संपर्क : चतुर्भुज ठाकुर मार्ग, गन्नीपुर, पो. रमना, जिला-मुजफ्फरपुर, बिहार- 842002, मो. 9431281949

अतीत के घेरे

विद्या लाल

सुबह उठो और चकरघिन्नी हो जाओ। बारह बजे तक एक पैर पर खड़ी रहो। सुबह उठकर झाड़ू-बुहारू और फिनायल का पोछा। चाय बनाकर धीरेन, ऋषि और दीप को बेड टी दो, फिर तुरंत ही उनके नाश्ते में जुट जाओ। रोज एक नयी फर्माइशी डिश तैयार करो। रोज खाने की मेज पर नवाबजादों को वेराइटी चाहिए होती है न! चाहिए भी क्यों नहीं, भला फरमाने में क्या जाता है। खुद करना पड़े तो पता भी चले, पर वो खुद क्यों करने लगे भला! वो जो हाजिर रहती है। हाजिर रहे नहीं तो करे क्या। शुरू में जब ऋषि और दीप नहीं थे सिर्फ धीरेन की ही अकेले की फर्माइशें होती थीं, तब भी तो निजात कहाँ थी एक दिन की भी। रोज-रोज की रूटीन लाइफ से ऊब हो जाती और कभी जो ब्रेड-बटर या ब्रेड-आमलेट वाला नाश्ता देना चाहती तो धीरेन भड़क जाते।

‘तुम्हारे मायके में ये सब चलता था। हम गाँव वाले इस ब्रेड-बटर और आमलेट-जैम के नखरे नहीं पालते। हमें तो आलू गोभी, सत्तू-मूली वाले भरवा पूड़ी-परांठे, हलवे और पेड़कियों, मठरियों की आदत है नाश्ते में। देखा नहीं महीने भर तो रही हो हमारे यहाँ, सीखना नहीं था क्या?’ तौबा! हाँ महीने भर थी वह शादी के बाद गाँव में। फिर तो धीरेन अपने साथ ही नौकरी पर लिवा लाये थे और शुरू हो गयी थी उनकी चख-चख। पसंद का नाश्ता बनाने पर भी नुक्ताचीनी करने से बाज नहीं आते थे धीरेन। हालांकि वह पूरे चाव से बनाती थी। देर तक आटा गूँथती, कड़क लाल परांठे तैयार करती, रायता, चटनी सब्जी के साथ परोसती फिर भी धीरेन को गाँव की याद आती ही आती।

“तुम्हें कुछ दिन माँ के पास गाँव में रहना होगा नीली, तभी तुम एक कुशल गृहणी बन सकोगी, जिसके हाथ के बने परांठों को खाकर उंगलियाँ चाटनी पड़े। तुम्हें ट्रेनिंग तो लेनी ही पड़ेगी।” वह तो सहम जाती, क्या वाकई धीरेन उसे गाँव में माँ के पास छोड़ देंगे रसोई सीखने को? पर गनीमत थी कि ऐसा हुआ नहीं था। वह बच गयी थी गाँव में रहने से। उसके अपने घर में इतना कुछ नहीं करना पड़ता था। बाबूजी, बड़ी माँ, वह और छोटी, कुल चार जने का छोटा-सा परिवार। बाबूजी को कभी उसने बड़ी माँ को नाश्ते या खाने की हिदायत देते नहीं देखा, कभी नहीं। बड़ी माँ की जो मर्जी। वही बनातीं। उसने जब से होश संभाला था, बाबूजी को हमेशा यहीं कहते सुना था, “अरे! ‘भइयाबो, हमसे क्या पूछती हो, हम तो कुछ भी खा लेंगे, जो मर्जी हो बना लो।’ वैसे तो बड़ी माँ कभी उनसे पूछती भी नहीं थी क्योंकि जब बाबूजी की नाइट ड्यूटी होती तो नाश्ते बनने के बाद बाबूजी फैक्ट्री से लौटते। मॉर्निंग शिफ्ट होती तो वह

फैक्ट्री के कैंटीन में नाश्ता और लंच कर लेते। बड़ी माँ को सुबह उठने ही नहीं देते और दोपहर वाली शिफ्ट में ही बाबूजी नाश्ते के वक्त घर में होते या फिर छुट्टियों वाले दिन, पर उन दिनों में भी बाबूजी ने कभी कुछ नहीं फर्माया।

“जाने तेरे बाबूजी किस मिट्टी के बने हैं। और लोगों के घर में देखो तो मर्जी मर्दों की ही चलती है पर तेरे बाबूजी तो अनोखे हैं। तेरे बड़े बाबूजी तो मुझे दौड़ा-दौड़ाकर थका डालते थे। बच्चों के न होने की जैसे कसर निकालते थे। पर तेरी माँ को तेरे बाबूजी ने कभी परेशान नहीं किया। जो करे वो ही करे। हैं तो दोनों एक ही माँ के जाये पर फर्क देखकर लगता नहीं।” बड़ी माँ जब तब बाबूजी की तारीफ करतीं। उसे याद आता है, बड़ी माँ के चेहरे पर दर्प छा जाता कहते-कहते। साल भर पहले ही तो बड़े बाबूजी का देहांत हुआ था। बड़ी माँ बिल्कुल अकेली हो गयी थीं। उनकी कोई संतान जो नहीं थी। जब माँ छोटी को ६ महीने का छोड़कर स्वर्ग सिंघार गयीं तो बाबूजी गाँव से बड़ी माँ को लिवा आये थे। उनके सून अकेले जीवन में उन दोनों बहनों से एकबारगी रौनक हो गयी थी। बड़ी माँ बताती थीं “छोटी को पाकर तो जैसे मुझे लगा था कि मैं ही उसकी माँ हूँ और ऊपर से नीली की शरारतें, मैं तो सब कुछ भूल गयी थी। दम मारने को फुर्सत नहीं मिलती थी। इन दोनों के सुख की चिंता में मेरी अपनी चिंता मिट गयी थी।” “भगवान बड़ा कारसाज है बहन, उसे छोटी और नीली की माँ को ले जाना था तो किसी को तो उसकी जगह भेजना ही था न!” सुनने वालीयाँ बड़ी माँ के कहे का जवाब देतीं। बड़ी माँ निहाल हो जातीं। बाबूजी ने तो बड़ी माँ को पूरा मान दिया था। उन्हें कभी यह महसूस नहीं होने दिया कि उनकी जगह केवल बच्चों को पालने वाली आया जैसी है। जब भी बाबूजी घर में होते, “भैया बो”, “भैया बो” की रट लगाते रहते या फिर उन दोनों बहनों के नखरे उठाते। उनके घर में भी पहले पूड़ियों, पराठों, मठरियों और पेड़कियों का नाश्ता बनता रहा था पर जब से दोनों बहनें बड़ी हुई थीं, घर में उनका ‘राज’ चलने लगा था। उनकी पसंद बदलने लगी थी। घर में कैसे पर्दे होंगे, कैसे टेबुल क्लॉथ, कैसी क्रॉकरी,

ये सब अब बड़ी माँ नहीं, नीली तय करने लगी थी और ‘छोटी’ तो बड़ी होकर भी छोटी ही रही। जो उसकी दीदी की पसंद वहीं उसकी। नये फैशन के कपड़े और फिल्मों में देख-देखकर घर सजाने का शौक को बाबूजी बिना नुक्ताचीनी के पूरी करते। बिन माँ की बच्चियों को वह कोई कमी कैसे खलने देते? पहले माँ की खुशियों की चिंता थी और अब उसकी बेटियों की।

घर में नये तौर-तरीके चल निकले थे। ब्रेड-बटर-आमलेट, जैम, जेली, केक, बिस्कुट और फलों का नाश्ता और खाने में छुट्टी वाले दिन कभी गुजराती, तो कभी मराठी, कभी बंगाली तो कभी पंजाबी डिशें। बड़ी माँ सब कुछ सीखा था। नीली ने ही बड़ी माँ को कुकींग की किताब से ये डिशें बनाना सिखाया था- “बड़ी माँ, अब जमाना बदल गया, अब ‘नया जमाना’ है, अब तो यही चलता है।” बड़ी माँ ने भी शुरुआती ना-नुकुर के बाद हथियार डाल दिया था रसोई में वो बड़ी माँ को भी अकेला जो नहीं छोड़ती थी। अजनबी डिशों के बीच उनकी अपनी नीली जो हमेशा मौजूद रहती थी और पीछे-पीछे हौसला बढ़ाती छोटी। और तो और बड़ी माँ को तो उन दोनों बहनों ने फिल्में देखना भी सिखला दिया था। “क्या बड़ी माँ! जब देखो रसोई में। इतना अचार, मुरब्बा, ‘सुखौता’... बाप रे बाप! तुम थकती नहीं, अब नाश्ते वाला टाइम बचता है न। हफ्ते में एक स्पेशल डिश भी है। अब तुम्हें पिकचर देखने चलना ही पड़ेगा। “ठीक है बाबा! लेकिन सिर्फ सती अनुसुइया और संतोषी माता....।”

“नहीं बड़ी माँ, भगवान वाली फिल्म नहीं। हम जो देखेंगे वही। बॉबी, तुम हंसी मैं जवां, कर्ज...।”

“ठीक है तुम मानोगी थोड़े ही।” बड़ी माँ को झूठ मारकर फिल्में देखनी ही पड़ती थीं। बिचारी बड़ी माँ!

बाबूजी ने जब उसकी शादी गाँव में तय कर दी तो छोटी उनसे उलझ पड़ी थी, “बाबूजी! आप दीदी की शादी गाँव में कैसे कर सकते हैं? दीदी वहाँ कैसे रहेंगी? हमलोगों का गाँव में मन नहीं लगता, आप तो जानते हैं न!” पर बाबूजी ने बताया था कि लड़के की तो शहर में नौकरी है। अब वह गाँव वाला थोड़े ही है। उसकी दीदी तो शहर में ही रहेगी। पर बाबूजी की आधी बात ही सच हुई

थी कि वह शहर में रह रही थी पर धीरेन्द्र वर्मा की परवरिश तो गाँव में ही हुई थी। उसने जरूर धीरेन्द्र वर्मा को धीरेन बना लिया था पर उनकी सोच, उनकी रुचियाँ नहीं बदल पायी थीं। हाँ, महज नाम ही बदल पायी थीं और कुछ भी नहीं, कुछ भी तो नहीं।

“कोई किसी को बदल पाता है क्या? बदलना इतना आसान है क्या?” खैर...। धीरेन गाँव में ही पैदा हुए थे, गाँव से ही हाईस्कूल किया था और साइकिल आते-जाते गाँव से थोड़ी दूर के कस्बे से ग्रेजुएशन। हाँ, उन्हें नौकरी जरूर शहर में करनी पड़ी थी, क्या करते मजबूरी थी। पर उन्हें तो अब भी गाँव ही भाता था। तभी तो रिटायरमेंट के बाद जनाब गाँव में बसने की योजना बनाये बैठे हैं। ऐसा भी नहीं कि वह धीरेन को समझती नहीं। वह जानती है, जन्मभूमि का मोह क्या होता है। उसे भी तो ब्याह के बाद अपना शहर छोड़ना पड़ा था और वह महज चार महीने बाद ही जुगत भिड़कर १५ दिनों के लिये ही सही धीरेन के साथ अपने शहर लौट आयी थी, अपनी पहचानी गलियों में। वह तो चाहती थी, उसकी शादी अपने ही शहर में हो ताकि वहीं रह सके, हमेशा-हमेशा के लिए, पर ऐसा कहाँ होना था! उसकी कई सहेलियों का ब्याह जरूर आसपास के शहरों में हुआ था और उनका साल-दो-साल में चक्कर लग ही जाता था मायके का। पर वह तो इतनी दूर ब्याही थी कि उसका मायके जाना संभव ही नहीं होता था।

हाँ, बाबूजी जरूर साल में एक बार उसके पास आ जाते थे नियम से, अपनी नीली से मिलने। वह तो इन २० सालों में मुश्किल से चार-पाँच बार ही जा पायी है, पर वह जब भी अकेली होती है, आसपास कोई नहीं होता तो आँखें मूँदते ही पहुँच जाती है ‘डनलप’ की उन्हीं गलियों में, अपने क्वार्टर में। फिर सहेलियों के क्वार्टर से होती हुई ‘माठ’ (मैदान) से गुजरते हुए स्टाफ क्वार्टर पार करती सीधी स्कूल में जा पहुँचती है। कभी प्रार्थना की लाइन में हंसते हुए पकड़े जाने पर पड़ती डांट तो कभी लेट होने की वजह से गेट के बंद ताले को सहेलियों के साथ घूरती है तो कभी झाँसा देकर क्लास में घुसते ही हो-हो कर हंसती-हंसाती लोट-पोट हो जाती है। कभी बांग्ला स्कूल से होकर अस्पताल पहुँचती है और पीछे-पीछे आते मुकुंद को

देखकर उसकी सांसे तेज हो जाती है। यह मुकुंद छँटा हुआ बदमाश है। लड़कियों को आते-जाते छेड़ना ही उसका शगल है। उसे देखते ही नीली की तो हंसी गायब। ये जा...वो जा... बाप रे! पूरा बदमाश। “मम्मी, एक पराठा और देना और रायता भी।” ऋषि खाने की मेज पर बैठा आवाज दे रहा है नीली वर्तमान में लौट आती है।” गोभी भरा पराठा और रायता ले जाकर ऋषि की थाली में रख देती है। “तुम्हारे हाथ के ये भरवां पराठे जितना भी खाओ, जी ही नहीं भरता। मम्मी, तुम्हारे हाथों में जादू है, जादू। मैं शर्त लगा सकता हूँ, ऐसे पराठे कोई नहीं बना सकता।”

“सबकी माँ के हाथ में जादू होता है, पूछो अपने पापा से।” उसने धीरेन को कनखियों से देखा है। धीरेन झेंप जाते हैं। वह वापस रसोई में आ जाती है। ये ऋषि और दीप अपने पापा पर ही गये हैं, उस पर नहीं। इनकी पैदाइश तो शहर की है। पढ़े भी हैं पब्लिक स्कूल से, टी.वी. पर इतने तो विज्ञापन देखते हैं। मैगी, नूडल्स, पास्ता, मैक्रोनी जाने क्या-क्या, पर इन्हें भी धीरेन की तरह ही खाने का बेहद शौक है। बचपन से जो घर में बनता बाया उसी का तो स्वाद आयेगा नवाबजादों को। आखिर मरण दशा तो उसकी है। ब्रेड-बटर, मैगी-आमलेट... नाम से ही चिढ़ते हैं, ये भी कोई खाना है? ठीक है, जब मर जायेगी तब पता चलेगा। बनाते रहना ‘खाना’। तब तो वही ब्रेड-बटर और मैगी, नूडल्स अच्छा लगने लगेगा। सारी हेकड़ी धरी की धरी रह जायेगी। एक तिनका तक तो सरकाया नहीं जाता इन तीनों से। जाने उसके बाद क्या होगा इन ‘भुक्खड़ों’ का। वह एक उसांस भरकर दोपहर के खाने की तैयारी में जुट जाती है। धीरेन तो नाश्ता करके दफ्तर जा चुके हैं और ऋषि, दीप कॉलेज। वह रसोई में चावल, दाल, सब्जी, चटनी बनाकर पकौड़ी का सामान तैयार कर रसोई समेटती है और बाथरूम में चली जाती है। पूरे घर के कपड़े धोना, फिर नहाना। वाशिंग मशीन लाकर धीरेन ने तो छुट्टी पा ली है। बारह बजे के करीब फुर्सत पाकर, नहा-खाकर जरा पीठ सीधी करती है तो फिर से अतीत के पन्ने फड़फड़ाने लगते हैं। अब तो बाबूजी भी नहीं रहे और छोटी भी साल भर बाद ही उनके

पीछे-पीछे चली गयी, अपने पीछे बच्चों को छोड़कर, जैसे उसे ही अपने बाबूजी से ज्यादा प्यार था। उसकी आँखें भर आईं। डनलप में अब कोई नहीं। बड़ी माँ तो छोटी की शादी होते ही चल बसी थीं, जैसे जिस काम के लिए बाबूजी उन्हें गाँव से लाये थे, वो काम निपट जाने के बाद उनके लिए जीने का कोई सबब बाकी ही नहीं रहा था और गाँव लौटने का तो सवाल ही नहीं था तो ऊपर चली गयी थीं बड़े बाबूजी के पास।

अपनी माँ का तो चेहरा भी याद नहीं। जब माँ गुजरी थीं नीली सिर्फ तीन बरस की थी। कुछ भी तो याद नहीं माँ की बाबत, कुछ भी नहीं। फिर भी वह घर बहुत याद आता है और याद आते हैं बाबूजी। साइकिल से फैक्ट्री जाते, हफ्ते के दिन नियम से नाश्ते के लिए एक टोंगा निमकी, एक भांड (मिट्टी का बर्तन) राजभोग लाते बाबूजी। दोनों हाथों में ऊपर तक सब्जियों से भरा झोला लटकाये बाबूजी, पूरे हफ्ते के लिए उन दोनों बहनों को लंच के लिए पैसे पकड़ते बाबूजी, उनसे दोगुने लौटाने की शर्त पर पैसे उधार लेते बाबूजी। वह जिद्दी भी तो बहुत थी, तंग कर देती थी। बाबूजी कभी किसी बात के लिए मना नहीं करते थे, बस थोड़ी 'मोहलत' मांगते थे, पर वो दे तब न! नीली तो वह भी देने को तैयार नहीं होती थी। "आज 'बीनाका' (ट्यूपेस्ट) चाहिये तो चाहिये। 'हफ्ता' नहीं मिला का क्या मतलब? हम कुछ नहीं जानते। बस!" उसकी आँखें भर आयी हैं। कितना तंग करती थी बाबूजी को। पर छोटी बहुत शांत थी कोई जिद नहीं। कोई नखरा नहीं। जहाँ दीदी, वहाँ वह, यह सोचते ही एक टीस उठती उसके कलेजे में। अब कहाँ वह दीदी के पास आयेगी। दीदी की बात सुनने नसीहत-नसीहत और नसीहत। तीन साल छोटी थी न। बातों से ज्यादा नसीहतें थी उसके हिस्से में... वह तो बाबूजी के पास चली गयी हमेशा-हमेशा के लिए। शादी के बाद भी नवीन और बच्चों के साथ बराबर आती रहती थी उससे मिलने, एक-दो रोज के लिए ही सही, वह नवीन को मना लेती थी इसके बावजूद कि नीली कभी उसके यहाँ नहीं जा पाती थी। धीरेन बाबूजी के यहाँ ही नहीं जाने देते थे तो छोटी की ससुराल कैसे जाने देते।

धीरेन ऐसे क्यों हैं? उन्हें अपने गाँव से प्यार है, अपने

माता-पिता, भाई-बहनों से प्यार है, वहाँ जाते भी रहते हैं पर उसे भी तो अपने बाबूजी से प्यार था, अपनी छोटी से प्यार था, यह बात वह क्यों नहीं समझते। वो सोच-सोच के थक गयी है। 'क्या करोगी 'डनलप' जाकर। तुम्हारे बाबूजी तो आ ही जाते हैं, छोटी भी आती ही रहती है। अब किससे मिलने 'डनलप' जाना है? कोई जरूरत नहीं जाने की'। धीरेन का हमेशा अपना रटा-रटाया एक ही जवाब होता।

'आपके माँ-बाबूजी भी तो आते रहते हैं, भाई लोग भी आते ही हैं, फिर आप क्यों गाँव जाते हैं? गाँव देखने और गाँव वालों से मिलने ही न! पर उसकी दलील बेकार जाती है हमेशा की तरह। वह जब बाबूजी और छोटी से मिलने की अहमियत ही नहीं समझा पायी थी धीरेन को तो अब भला बाबूजी और छोटी बहन विहीन मायके की अहमियत क्या समझा पाती। पर इन यादों पर तो धीरेन का कोई बस नहीं। नींद में डूबे धीरेन के बगल में लेटी होकर भी वह कई बार 'डनलप' की गलियों में भटकती रहती है। जन्मभूमि को कभी भी, कोई भी तो नहीं भूल पाता। जहाँ जन्म लेकर, जिन गलियों में खेल-कूदकर इंसान बड़ा होता है, वे मृत्युपर्यन्त दिलोदिमाग में नक्श रहती है। जाने कितने चेहरे, कितने नाम जो दूर होकर भी पास होते हैं, आँखों में जब-तब उभर आते हैं। ये यादें कितना सुकून देती हैं। भावनाएँ जब काबू में नहीं आती तो आँसुओं की राह बाहर आ जाती हैं। उसके साथ भी तो कई बार ऐसा होता है। कहते हैं, अपने दिल से जानिये, पराये दिल का हाल....तो धीरेन भला कैसे नहीं जानते, उसके दिल का हाल।

कल सुबह मेनका का फोन आया और दोपहर की डाक देखी तो उसकी चिट्ठी थी। मेनका आज भी चिट्ठी लिखती है। फोन पर की बातें तो बिला जाती हैं, पर चिट्ठियों को पढ़ो तो बीते दिन वापस आ जाते हैं। जब चाहो हाथ बढ़ा के छू लो। उसकी चिट्ठी आती है तो जाने कितनी बातें ताजा हो जाती हैं। अतीत, व्यतीत होकर भी गुजर नहीं जाता। पुनः तो उन्हें घूम-फिर आदमी जीता जाता है कई-कई बार। उसकी माँ नहीं रही। चिट्ठी पढ़कर वह उदास हो गयी थी। चिट्ठी का जवाब लिखते-लिखते मेनका की माँ का चेहरा जेहन में तैरता रहा। मेनका के घर जाने पर

उसकी माँ का फ्रिज से निकाल कोका-कोला पिलाना, मिठाइयां खिलाना, आने का इस्सर करना सब याद आता चला गया। आँखों से आँसू निकलकर चिट्ठी को भीगोने लगे थे। वह हिचक-हिचक कर रो दी थी। फिर थोड़ी देर बाद अंतिम लाइनें लिखीं थीं उसने 'तू भी मेरा चिट्ठी पढ़ते हुए कभी रोती है, बीती बातें याद करके?'

कैसा पागलपल भरा प्रश्न किया है उसने। भला उसके बच्चे पढ़ेंगे तो क्या सोचेंगे मेरे बारे में? वह उठकर आलमारी खोलकर घड़ी निकाल लेती है और उसे अपनी हथेलियों में भर लेती है। यह घड़ी उसने मेनका के लिए खरीदी है, इस उम्मीद में कि कभी वह 'डनलप' गयी तो अपने हाथों से बांधेगी ये घड़ी उसकी कलाई पर। मेनका खुशनासीब है कि पास के शहर में रहती है और गाहे-बगाहे उसका मायके जाना होता रहता है। पर पिछली बार जब मेनका का पत्र आया था तो उसने लिखा था, 'नीली, अब हमारा 'डनलप' वह 'डनलप' नहीं रहा, अब तो उसकी सड़कें और गलियाँ सब बेरौनक हो गयी हैं। चारों तरफ लोग बाग होते जरूर हैं, पर जैसे एक सन्नाटा पसरा रहता है, कोई चहल-पहल नहीं। 'डनलप' बहुत बदल गया है। हाँ, सब कुछ। बदल गया है, कुछ भी पहले जैसा नहीं रहा। तू आयेगी तो खुद ही देख लेगी कभी।' पत्र पढ़कर वह उदास हो गयी थी। यह कैसे हो सकता है। पर मेनका झूठ क्यों कहेगी? वह वहाँ जाती है, देखती रहती है महसूस करती है। सच ही लिखा होगा उसने तो। पर वह क्या करे, आँखें मूंदते ही उसकी नजर में जो 'डनलप' उभरता है वह तो उसका अपना 'डनलप' है, जीवन से भरा, रौनक से भरा। जहाँ बाबूजी बगीचों में पौधों को पानी

देते हैं, उसके होमवर्क में मदद करते हैं, छोटी कंचे खेलती है, बड़ी माँ की रसोई की कवायद है। वह तैयार होकर सहेलियों के घर जाती है। रास्ते में उनकी तादाद बढ़ती जाती है, अपने-अपने क्वार्टरों के सामने औरतें बतिया रही होती हैं, उधम मचाते बच्चे हैं, साइकिल से उन लोगों का पीछा करते, फब्तियाँ कसते लड़के हैं और सबसे आगे वो 'हीरो' मुकुन्द। पक्की सड़क पर स्कूल जाती लड़कियों की ठिठोलियाँ और सामान भरे झोलों के साथ आते-जाते लोग।

प्रार्थना की लाइन में इशारे और चुहल करने पर पड़ने वाली डांट है। क्लास में किताबों पीछे छुपाकर उपन्यास पढ़ने की आपाधापी है। लंच टाइम की धमाचौकड़ी है, और स्कूल से लौटते में किसी नई फिल्म की कहानी सुनाती-सुनाती वह और उसकी सहेलियाँ। माठ (मैदान) में फुटबाल खेलते लड़के और उनका उठता हुआ शोर। उसकी यादों में सबकुछ वैसा का वैसा ही है, कुछ भी तो नहीं बदला। वही वर्षों पुराना अपनेपन की गरमी से महमह करता उसका अपना शहर।

"नीली! कहां हो भई, खाना लगाओ, जोरों की भूख लग रही है।" धीरेन है, लंच टाइम में आये हैं तो दो बज गये इसका मतलब। थोड़ी ही देर में ऋषि, दीप भी आ जायेंगे। नीली घड़ी वापस रख देती है और आलमारी बंद कर देती है। ये यादों का पिटारा भी तो अकेले में ही खुलता है। अभी तो पकौड़े तलने हैं और दाल-सब्जी भी गर्म करनी है। वह रसोई की तरफ बढ़ जाती है।

बाथरूम से धीरेन के हाथ-मुँह धोने की आवाजें आ रही हैं।

स्मृति-शेष :

विगत १० दिसम्बर २०१६ अकस्मात् 'मुक्तांचल' के साथ अभिन्न रूप से जुड़े समीक्षक साहित्यकार अरुण अभिषेक एवं ०२ फरवरी २०१७ को कथा-लेखिका विद्या लाल का देहावसान हो गया, इस अपूरणीय क्षति से मर्माहत है 'मुक्तांचल' परिवार, श्रद्धांजलि एवं नमन्!

एक औसत : एक जिंदगी
रामदरश मिश्र

‘कौन है यह?’ –मैंने अपने साथ चलते हुए अपने गँवई दोस्त सुकुमार से पूछा।
‘अरे यह नरेश की बहू है! आप नहीं पहचानते?’ फिर जैसे उसने अपने को सुधारते हुए कहा- ‘‘हाँ, आप पहचानेंगे भी कैसे! चार-चार साल पर तो गाँव आते हैं! भूल ही गये सबको!’’

मैंने मौन होकर यह शिकायत स्वीकार ली और सोचता रहा- ‘यह नरेश की बहू है। कुवार की इस चिलचिलाती धूप में मर्दों को मात करती हुई फावड़ा चला रही है!’

‘पालागी बाबा!’ खेत के पास पहुँचने पर नरेश की बहू भवानी (हाँ यही तो नाम है इसका) ने मुझे नमस्कार किया और काम करना छोड़कर हँसती रही।

मुझे आशीर्वाद देना नहीं आता और विडम्बना यह है कि गाँव में पद में बहुतों से बड़ा हूँ- किसी का चाचा, किसी का आज्ञा, किसी का परपाजा। मुँह में कुछ बुदाबुदाकर आशीर्वाद देने का अभिनय किया।

बाढ़ का पानी हट गया था, खेत बोने लायक हो गये थे और यह औरत श्रम से लथपथ, हँसी से खेलती हुई जमीन की पतों को तोड़ रही थी। मैं खड़ा-खड़ा देख रहा था।

‘क्यों बाबा, गाँव आने की इच्छा नहीं होती? गाँव कितना भी बुरा हो जाय, अपनी मातृभूमि है न!’
‘हाँ, है तो!’

मैं गाँव आकर इस प्रकार के औपचारिक सवालों से ऊब जाता हूँ लेकिन भवानी के इस वाक्य में सच्चाई की कुछ ऐसी आँच थी कि मैं इसे औपचारिक नहीं मान सका और अनुभव करने लगा कि मैं कितना कट गया हूँ इस जमीन से कि यहाँ के चेहरे नहीं पहचानता!

मैं चलने को हुआ तो भवानी ने आग्रह किया-‘बैठिये। बाबा, ऐसे लोगों के दर्शन बड़े भाग से होते हैं। आपके दरसन से पुण्य मिलता है...!’

मैं संकोच में गड़ा जा रहा था इस सन्तत्व के पुरस्कार से लेकिन भवानी का स्वर इतना अकृत्रिम था कि मैं उसका आग्रह टाल नहीं सका और खेत की मेंड़ पर पेड़ की छाँह में बैठ गया।

भवानी कुदाली चलाती रही और हँसकर बातें करती रही। हाँ वह जमीन की परतें तोड़

रही है...ब्राह्मण अभिजात्य की जमी हुई सतहें तोड़ रही हैं और नये बीज उगाने के लिए...

मेरे सामने परत टूट रही थी...

नरेश की विधवा बहू भवानी...नरेश का पूरा खानदान अपनी नंगई और गुण्डागिरी के लिए जवार में मशहूर था- किसी को उजाड़ दिया, किसी को लूट लिया, किसी को गाली दे दी। इसके दरवाजे से होकर लोगों का निकलना मुश्किल था। आतंक इसके घर के आस-पास पहरा देता था। ये थे तो गरीब लेकिन दूसरों की संपत्ति का बहुत कुछ हथिया लेने की वजह से इनका काम आसानी से चल जाता था और नंगई के बल पर सबके ऊपर छाये रहते थे। परिवार भी भरा-पूरा था नरेश का- उसका परम नंगा बाप कोदई और दो हट्टे-कट्टे बदमाश, चोर चाचा। चाचा लोग कुंवारे थे। नरेश की भी शादी बड़ी मुश्किल से हुई थी। उसने मिडिल पास कर लिया था, शायद इसलिए...

नरेश मेरा सहपाठी था। हम लोगों के बीच अपनी नवागता बहू को बड़े प्यार से याद करता था। उसकी सुंदरता का बखान करते नहीं थकता था। उसकी बात करते-करते भावुक हो उठता था। वह अपने खानदान में थोड़ा अलग था- नेक दिल और समझदार। वह चाहता रहा अपने खानदानी कलंक को मिटाना। जो कि वह खुद प्रायः अपने खानदानी दंभ, जोश-खरोश और नंगई का शिकार हो जाता था तो भी वह अच्छा था। वह मिडिल पास कर एक प्राईमरी स्कूल में शिक्षक हो गया था। रोज तीन कोस आता था, तीन कोस जाता था, घर का काम करता था, अपने नंगे बाप की गाली और मार खाता था मगर उसके मन में एक सपना था-मकान बनवाने का। टूटे-फूटे खंडहर को देख उसे कोफ्त होती।

‘बाबा, क्या सोच रहे हैं? कुछ बोलिये-बतियाइये! बड़े भाग से तो दरसन हुए हैं!’

‘कुछ नहीं, बहू, कुछ नहीं। तुम्हें देखा तो पुरानी यादों में डूब गया था। उभर आये थे वे दिन जब नरेश मेरा सहपाठी था। कितने भोले-भाले थे वे दिन!’

भवानी वैसे ही कुदाली चलाती रही। हँसकर बोली- ‘छोड़िये, बाबा, उन बीते दिनों को! वे पकड़ में कहाँ आते हैं! झूठे हैरान करते हैं!’ आपने तो दुनिया बहुत देखी है,

कुछ देश काल की बात सुनाइये...।’

मैंने अनुभव किया कि अंतिम शब्द तक आते-आते भवानी का स्वर कुछ भारी हो गया था और कुछ देर तक उधर को मुँह करके कुदाली चलाती रही। जिस सत्य को हम लोग इतना पढ़-लिखकर भी नहीं पकड़ पाते, उसे भवानी ने कितनी सहजता से पा लिया है!

‘हाँ, ठीक कहती हो बहू। भूली बातों में क्या धरा है मगर वे कभी-कभी याद आ ही जाते हैं।’

ऐसा लगा कि मोटी-सी रेखा भवानी के चेहरे पर उगी और तुरंत मिट गयी- ‘हाँ, बाबा, सो तो है...।’

ग्यारह बज रहे थे। भवानी की लड़की मेंडू पर आकर खड़ी हो गयी- शायद कुछ कहना चाहती थी।

‘कितनी छोटी थी तब!’

‘हाँ अब तो बारह साल की हो गयी, अभी से चिंता सवार हो गयी है। बाबा, कैसा है हमारा समाज जहाँ बेटी छाती पर पत्थर बनकर जनमती है! उधर कैसा है बाबा?’

‘उधर के लोग इतने दकियानूस नहीं हैं, इसलिए सुखी भी हैं। उधर लड़कियों की बहुत इज्जत है। बहू, और कोई लड़की है न?’

‘नहीं बाबा, वह लड़का है- इससे दो साल छोटा। भगवान जिया दें और आदमी बना दें, इसी आशा पर तो जिंदगी से लड़ रही हूँ...।’

‘माई, पहुना आये हैं कहीं से...’

‘कहाँ से?’

‘मैं चिन्हती नहीं, आकर बैठे हैं।’

भवानी ने कुदाली रोक दी और बेटी को इस कदर देखने लगी मानो पूछती हो- घर पर कुछ खाने-पीने को है? मगर बेटी की आँखों की उदासी को पढ़कर जान लिया कि घर खाली है।

‘चल, बेटी तू घर चल। मैं बनिया के यहाँ से होकर आती हूँ।’

बेटी चली गयी कुदाली लेकर।

‘देखा, बाबा, कुआर में भी पहुनाई करने की फुरसत मिल जाती है लोगों को! पता नहीं, कौन हैं ये जो काम के समय तारने आ गये हैं!’

चलने को उद्यत होती हुई बोली- ‘अच्छा, बाबा,

आपके भी खाने-पीने का बखत हो गया है। सुकुआर ठहरे, बेला कुबेला खाने से तबियत बिगड़ जाती है।’

‘अरे, सुकुआर कहाँ का! मैं भी तो इसी मिट्टी से जनमा हूँ।’

‘अरे, जब जनमें थे तब जनमें थे, अब तो कितनी दूर जा पड़े हैं।’ हँसकर वह चली गयी और मुझे लगा कि भवानी की इस सीधी बात में कितना कटु सत्य भरा है।

मैं घर नहीं गया, सुकुमार के साथ पास के बगीचे में टहलता रहा। पास के तालाब में पाँखी किलोल कर रहे थे और ठण्ठी हवा रह-रहकर सुखद स्पर्श छोड़ जाती थी।

बचपन के कितने दिन बीते हैं इन पेड़ों के साथ, इस जल के साथ, इस मिट्टी के साथ। बचपन की याद आते ही नरेश फिर याद आ गया। नरेश... बचपन का सहपाठी...जब मैं विश्वविद्यालय से गाँव आता तो उसके साथ होकर यह भूल ही जाता कि मैं गाँव से कट गया हूँ...और एक दिन सुना कि हैजे की बीमारी गाँव में फैली हुई है जिसमें नरेश के दोनों चाचा लोग मर गये। कोदई जैसे अकेले बरगद-सा खड़ा था तनिक सी हवा में हहरा उठता था...एक दिन नरेश की माँ भी खँय-खँय करते चली गयी।

नरेश मकान बनवा रहा था। पुश्तैनी डीह की जमीन झगड़े में पड़ गयी, इसलिए वह अपने खेत में मकान बनवा रहा था। मकान आधा ही बना था कि नरेश मर गया। कोई समझ नहीं पाया कि क्यों मर गया। हाँ, पीला बहुत दिनों से दीख रहा था...

भवानी कटे रूख की तरह गिरी थी और उसके चारों ओर फैला हुआ सुनसान उसे निगल रहा था।

बेटे के मर जाने से कोदई श्मशान के बरगद-सा खड़ा था- बात-बात में हहराता हुआ सन्नाटे को और भयावना करता हुआ। भवानी एक छाया सी इस बरगद की छाँह से सिमटी-सिकुड़ी पड़ी थी।

कोदई भवानी को गालियाँ देता था, मारता था, भवानी घर की खराब हालत देख रही थी और देख रही थी बड़बड़ाते कोदई के निकम्मेपन को। वह चाहती थी घर के बाहर कूदना लेकिन सामाजिक आतंक कोदई के रूप में खेत के धोखे-सा खड़ा था।

एक दिन कोदई बाढ़ में बह गया। और उसी बाढ़ में

नरेश द्वारा बनवाये आधे मकान की दीवारें टूट-टूटकर ढहने लगीं, छतें भहराने लगीं। बच्चा और बच्ची को लिये खड़ी भवानी...चारों ओर गरजती सीमाहीन बाढ़...ऊपर खुले आकाश से टूटता हुआ मेघ... सीमाहीन दिशाओं की ओर ताकती भवानी... दीवारें टूटकर गिर रही थीं। पुश्तैनी लकड़ियाँ, जो मकान में लगी थीं, भहरा रही थीं और भवानी बच्चों को लिये सब देख रही थी घूँघट उठाये हुए...

और तबसे मैं गाँव नहीं आया पाँच वर्ष बीत गये।

सुकुमार बता रहा है- ‘बड़ी बहादुर औरत है यह, भइया!’

मैंने सुकुमार को जिज्ञासा से देखा तो वह कहने लगा- ‘जानते हैं भइया, कोदई की तेरही होते ही वह घर से निकल पड़ी। गाँव की चकित बूढ़ियों ने समझाया.... ‘बहू, अभी तुम्हें शोभा नहीं देता इस तरह घूम-घूमकर काम करना। अभी नरेश को मरे कितने महीने हुए हैं और अभी कोदई को मरे कितने दिन हुए हैं! अरे, कुछ पूजा-पाठ में मन लगाओ! उनकी आत्मा को शांति मिलेगी।’

भवानी ने बड़ा रूखा-सा उत्तर दिया- ‘हाँ, ठीक कहती हो, काकीजी! मैं पूजा-पाठ में मन लगाऊँ और गाँव वाले मेरी खेती-बारी में मन लगावें और एक दिन पूजा से जागकर पाऊँ कि मेरे सारे खेत पट्टीदारों के नाम हो गये हैं और मैं अपने दोनों बच्चों को लिए भिखारिन-सी रास्ते पर खड़ी हूँ! इससे उनकी आत्मा को शांति मिलेगी न!’

और काकी, दादी और आजी, सभी भुनभुनाती हुई चली गयीं- ‘अरे, कौन समझावे इस बहुरिया को! उसकी मति तो उल्टी हो गयी है!’

‘भवानी ने अपना घूँघट क्या उलट दिया मानो सारे गाँव का घूँघट उलट दिया। वह घूम-घूमकर अपने सारे खेत देख आयी, पहचान आयी। खेत थे ही कितने! केवल दो बीघे मगर कई टुकड़ों में बंटे हुए...

‘आप जानते ही हैं इस गाँव का हाल, भवानी जिधर से गुजरती, कुछ लोगों की छाती पर मानों एक जलती-सी लकीर खिंच जाती।

धनपति को तो आप जानते ही हैं, जहाँ ऐसा मौका देखता है, सहनुभूति का चारा लेकर पहुँच जाता है बेईमान...कमीना...साला...!’

मुझे लगा कि सुकुमार कोई ऐसी बात कहने जा रहा है जिसमें कुरूप धनपति का बिम्ब और भी कुरूप होकर उभरा है। मैं चुपचाप सुनता ही रहा।

सुकुमार एक तीखी घूंट गले के नीचे उतारता-सा बोला- 'बाढ़ हट गयी थी। खेत बोने का समय आ गया था। भवानी के पास न बैल थे, न हलवाह, न बीज। परेशान-सी यहाँ दौड़ती, वहाँ दौड़ती परंतु किसी के पास कहाँ इतनी औकात कि क्वार-कार्तिक में किसी की सहायता करे! उसने कइयों से बँटाई की बात शुरू की। कई लोग तैयार हो गये। तब एक दिन धनपतिया पान पचकारता भवानी से मिला। बोला- 'अरे, दो बीघे जमीन बँटाई दे दोगी तो खाओगी क्या?'

'क्या करूँ, बाबाजी... हाथ-पांव नहीं चलता है तो क्या करूँ?'

'अरे, तो मुझसे क्यों नहीं कहा? दो बीघे खेत होते ही कितने हैं! मैं सब करा दे रहा हूँ चिंता मत करो'

भवानी कृतज्ञ भाव से बोली- 'बड़ी दया होगी आपकी। फसल पर सब वापस कर दूँगी।'

'अरे, नहीं, इसमें लगता ही क्या है!' कहकर धनपतिया चला आया और उसने खेत जोता-बोवा दिये।'

धनपति पद में सुकुमार के चाचा लगते हैं और गाँव के अच्छे खाते-पीते लोगों में हैं लेकिन तिक्तता से सुकुमार धनपतिया कह रहा था और मैं धनपति की कुरूपता का अनुमान कर रहा था।

'भवानी सुबह से शाम तक फिरकी की तरह नाचती रहती-घर का काम, दुआर, बोहारना, गाय को सानी-पानी करना, गोबर सिर पर उठा-उठाकर खेत में फेंकना, मानो उसने सारे गाँव को चुनौती दे दी हो।

धनपतिया को घमण्ड था कि उसने भवानी के खेत जोते-बोये हैं। वह समझता था कि भवानी उसके एहसान की दासी बन गयी है। पहुँच गया एक दिन पहर भर रात बाकी रहते भवानी के यहाँ।

भवानी बहू, 'इस खेत में क्या बोया जाय यही पूछने आया हूँ।'

'धनपति बाबा, मैं तो सोचती हूँ, गोहूँ बो दिया जाय।' 'अच्छा।'

'लेकिन धनपति हिला नहीं, वहीं का वहीं खड़ा रहा। 'भवानी बहू, कोई और चीज चाहिए तो बोलना, कोई संकोच मत करना।' धनपति हांफ रहा था।

'आपकी मेहरबानी है, धनपति बाबा।'

'नहीं...नहीं बहू, मेहरबानी क्या है! बात यह है कि....बात यह है कि एहसान तो तुम्हीं मुझ पर कर रही हो।'

'मैं किस लायक हूँ बाबाजी, जनम की करमजली...अभागी...!'-

'तुम तो बहुत कुछ हो, भवानी!' कहते हुए धनपतिया ने भवानी की बांह पकड़ ली।'

'तुम्हें कैसे मालूम?'- मैंने सुकुमार को रोका।

'अरे, यह तो सारा गाँव जानता है। बात यह है कि भवानी का घर तो क्या है, खंडहर है। बोने के लिए कई लोग उधर से जा रहे थे। उन्होंने उनकी बातें सुनीं और फैला दीं। भवानी तो इतनी भली है कि उसने यह बात किसी से नहीं कही।'

'हूँ।' मैंने एक लंबी सांस ली और सुकुमार कहता रहा-

'भवानी ने धनपतिया को डांटा- 'छि: छि: या क्या करते हैं, धनपति बाबा!' लेकिन उन्माद में रंडुआ धनपतिया भवानी को कसता ही गया। भवानी ने जोर से धनपतिया के मुँह पर दांत से काटा। एक हल्की-सी चीख निकली और धनपति छूटकर अलग हो गया, गुरांता हुआ- 'अच्छा, देख लूँगा!'

'गाँव में धनपति का निकलना मुश्किल हो गया। गाल पर दांतों का निशान लेकर। किसी ने पूछा तो कह दिया- 'बच्चे ने दांत गड़ा दिया है...।'

और तब से गाँव के सारे शोहदे भवानी के रास्ते से हट गये, मानो भवानी का तेज उसके साथ लक्ष्मण-रेखा खींचता हुआ चलता था।

भवानी समझ गयी कि एहसान का मूल्य क्या होता है। वह अकेले ही जूझने लगी। खेत सींचने के लिए किसी का सहारा न मिलने पर अपने बच्चों को लेकर जूझ पड़ी। पोखरे से घड़े में पानी भर-भरकर अपने सारे खेत सींच गयी?'

'हाँ...हाँ, झूठ नहीं कह रहा हूँ।' सुकुमार बोलता गया- 'उसमें अजब साहस और बल है। खेत पाली-

गोबर पाकर झूमने लगे भवानी की आँखों में...।'

'बड़ी दुःखी है बेचारी!' मेरे मुँह से एक आह निकली।

'दुखी? नहीं भइया वह नहीं है, दुखी तो वे लोग हैं जो खूब खा-पीकर दूसरों का हड़प कर मुँह लटकाये रहते हैं। उसे देखिये, कभी उसके चेहरे को बुझा हुआ नहीं पायेंगे। चक्की चलाते समय, खेत काटते समय, रास्ता चलते समय, उपवास सहते समय गाती ही रहती है। सबसे हँसकर ही बोलती है। पता नहीं, भीतर का इतना रस उसे कहाँ से मिला है!

माघ की अमावास्या का समय आया। गाँव की बड़ी-बूढ़ियों ने प्रस्ताव किया- 'भवानी बहू, चलो तिरेवनी नहा आयें। पति और ससुर का फूला भी छोड़ती आना।'

'नहीं, काकीजी, मेरे लिए तो ये खेत ही तीरथ-बरत हैं, इन्हें छोड़कर कहाँ जाऊँ। साफ हो जायें। और मैंने फूला तो सेवन्ती नदी में ही छोड़ दिया है, यही अपनी माँ है।'

'अरे, तू इतनी बेशरम हो गयी कि भतार को मरे साल भर भी नहीं हुआ और तीरथ-बरत से एकदम नाता तोड़ बैठी! तू कितनी कठोर बन गयी रे!'

भवानी हँसती रही और औरतें बड़बड़ाती हुई चलीं गयीं। भवानी की हिम्मत गजब की है, भइया। यह तो पूस-माघ की रातों में उठ-उठकर खेतों का चक्कर लगा आया करती थी।

फागुन आया जो उसके ओठों से फाग की कड़ियाँ छूटती हीं नहीं थीं। गीत गाती हुई खेतों में हवा के समान पौढ़ती है।

'हाय दइया, इस बहुरिया को क्या हो गया है! बिल्कुल अपरबल हो गयी है! मरद को मरे साल भी पूरा नहीं हुआ और यह घूम-घूमकर फगुआ गा रही है!' औरतें बकतीं। भवानी सुनती और हँसती हुई निकल जाती।

'खेत पक गये। भवानी को मजूर नहीं मिले। बड़ी मारामारी थी मजूरों की। भवानी अकेले बैठ गयी खेत काटने और गाते-गाते सारे खेत काट गयी। दोनों बच्चे बोझ उठाते थे। भवानी कटे डांटों को शाम को ढोती थी। और जब सारी फसल कटकर खलिहान में पहुँच गयी तब एक दिन धनपतिया प्रकट हुआ। उसने कहा- 'इसमें का आधा तो मेरा है।'

भवानी ने पूछा- 'आधा आपका कैसे?'

'यह तो बँटाई का था। मैंने जोताया-बोवाया था' धनपति बेशरमी से बोला।

'बँटाई का तो नहीं था। आपने सहायता की थी। मगर मैं आपकी सहायता नहीं चाहती। आपने जितना खर्च किया हो सूद सहित ले लीजिये।'

'नहीं, नहीं, खेत बँटाई पर थे।' धनपति अड़ा हुआ था।

'तो आप अब तक कहाँ थे जब मैं अपने छोटे-छोटे बच्चों को लेकर खेत सींच रही थी, कटिया कर रही थी।'

'यह तो तुम्हारा निजी उत्साह था। उसके लिए मैं क्या कर सकता था? मैं बाहर गया हुआ था। तुमने मुझसे पूछे बिना कटिया कर ली तो मैं क्या करूँ?'

भवानी अड़ गयी- 'आप झूठ बोलते हैं! बँटाई की बात नहीं हुई थी और मैं फसल में हाथ लगाने नहीं दूँगी!'

धनपतिया ने अपने हलवाहों को ललकारा- 'उठा लो आधा डांट इसके खलिहान में से!'

भवानी हाथ में गड़ासा लिये तन गयी- 'जिस किसी ने डांट पर हाथ लगाया, उसे बाल दूँगी! यह डांट हमारे खून-पसीने से सिंचा है!'

'ताकते क्या हो, उठा लो आधा डांट!' धनपतिया गरज रहा था।

'मगर भवानी का चण्डी रूप देखकर किसी की हिम्मत नहीं हो रही थी। गाँव के तमाम लोग चुप खड़े थे। सत्य क्या है, सभी जानते थे मगर सभी मौन थे।

'अच्छा, समझूँगा!' कहकर धनपति चला गया।

'और एक रात भवानी के खलिहान में आग लग गयी। लपटों में डांट हू-हू जलने लगे। भवानी हाहाकार कर उठी और जलते हुए डांट की एक मूठ लेकर धनपति के खलिहान की ओर दौड़ी मगर लोगों ने रोक लिया। वह तड़पकर चीखने लगी- 'क्यों, मुझी को रोकने को वीर बने हैं आप लोग? धनपति को रोकने में डर लगता है? आपका इंसान कमजोर के लिए ही है?'

वह लोगों से पकड़ी जाकर तड़प रही थीर और जलते खलिहान की लाल-लाल लपटें उसकी आँखों में उठ गिर रही थीं।

'लोगों ने दौड़-धूप कर आधा डांट बचा लिया।

‘भवानी लोगों के पास इंसान के लिए दौड़ी-धूपी। लोगों ने टाल दिया- यह कहकर कि किसी ने धनपति के आदमियों को आग लगाते पकड़ा तो नहीं है।

भवानी सब समझ गयी। पंचायत में नालिश करना व्यर्थ था, क्योंकि वहाँ भी ये ही न्याय-मूर्तियाँ बैठतीं जो सत्य को जानकर भी कहने का साहस नहीं कर सकती थीं।

बरस पर बरस बीत गये उसे ऐसे ही जूझते अभावों से, कुरूपताओं से, अंधकारों से। उपवास पर उपवास किये। बाधाओं पर बाधाएँ पों लेकिन किसी के सामने झुकी नहीं। अपार जीवट पाया है इस औरत ने! अपने कोले के अमरुदों, जामुनों, नीबुओं को ले जाकर बाजार में बेचने लगी तो लोग झल्लाये- ‘गाँव की नाक कट रही है! ब्राह्मण की औरत का कुंजड़िन की तरह बाजार में बैठना बड़ा ही खराब है।’

भवानी ने कहने वालों को सुना दिया, ‘और जूठी हाड़ी में मुँह डालते घूमना, खलिहान फूंक देना, बैल चुरा लेना अच्छा काम है? ब्राह्मण का काम है...?’

दूसरे दिन जब हम लोग दशहरे के मेले में जा रहे थे तो सुकुमार ने एक ओर इशारा करते हुए कहा- ‘वह देखिये...!’

मैं देखकर मर्माहत-सा रह गया। भवानी कल वाले

खेत में अपने लड़के के साथ हेंगा खींच रही थी और लड़की हेंगे पर चढ़ी हुई थी। मैंने कल्पना नहीं की थी कि स्वतंत्र भारत में एक औरत बैल की तरह हल-हेंगा खींच सकती है।

‘यह कोई नयी बात नहीं, भइया, ऐसा तो अकसर करती है। अब तो लड़के-लड़की कुछ बड़े भी हो गये, तब तो अकेली ही जूझती थी।’

हम खेत के पास से गुजरे। मैं कुछ उदास हो गया था। भवानी ने पसीना पोंछा और हँसती हुई बोली- ‘बाबा, मेला जा रहे हैं।’

‘हाँ, मेला ही जा रहा हूँ।’

‘अच्छा कर रहे हैं, बाबा, आये हैं तो अपनी जमीन को पूरा अपनाकर जाइये...।’

लड़के चिल्ला रहे थे-

नीलकण्ठ नील बारी बारी

सीता से कहिहऽ भेंट अँकवारी

हमार नाव किसन मुरारी

भवानी का लड़का एक उड़ते नीलकण्ठ को देख रहा था। भवानी ने क्षण भर का मौन तोड़ते हुए कहा- ‘बाबा, सीता जी से मेरी भी भेंट अँकवार कह दीजियेगा।’

‘कह दूँगा’- कहकर अनमन सा मैं आगे बढ़ा। पीछे एक गुनगुनाती हुई आवाज छूट रही थी...।

संपर्क :

आर ३८, वाणी विहार, उत्तम नगर,
नई दिल्ली- 110059, मो. 09211387210

कैयल कह देना भव कविता नहीं है

(अविष्ट साहित्यकार गंगा प्रसाद तिमल से लक्ष्मण प्रसाद गुप्ता की आतचीत)

आपने 'अकविता' के दौर में 'अकहानी' से शुरुआत की। 'अकहानी' के प्रवर्तक के रूप में जाने गये। इसके साथ ही काव्य-सर्जना भी करते रहे। कविता के प्रति यह आकर्षण कैसे उत्पन्न हुआ ?

असल में, मैं आरंभ में कविताएँ ही लिखता था। जो कविताएँ लिखता था, वो उस जमाने में प्रचलित लोकप्रिय कविताओं की ही तरह थीं। 'अकविता' से पहले। 'नई कविता' से भी पहले, मैं कई कवियों से प्रभावित था।

आपकी कविता एक अलग तरह की भाषा और बिंबों की सर्जना करती है। आम तौर पर जो आपकी कविताएँ हैं, एक ऐसे समय में जब एक सदी खत्म हुई और दूसरी सदी का आरंभ हो चुका है, तकनीक बहुत तेजी से बदल रही है, ऐसे में काव्य भाषा का जो संदर्भ बनता है कि आप जीवन में जितने सहज हैं, वह रचना में भी यह एक अलग ही तरह का सर्जनात्मक रूप लेकर आता है। जहाँ प्रतिरोध बहुत आक्रोश के साथ नहीं दिखाई पड़ता है, फिर भी कहीं-न-कहीं व्यवस्था और बदलाव को लेकर उसकी एक जंग है। जिसके बीच से एक रास्ता निकालने की उम्मीद भी दिखाई पड़ती है। इन सभी बातों के आलोक में आप अपनी रचना-प्रक्रिया के बारे में बतायें।

लंबे अर्से तक वामपंथ से मेरा गहरा रिश्ता रहा है।

वो तो अभी भी है।

हाँ, जिस तरह से पुराने समर्पित लोग थे। पहली मई को बोटल और छतरी उठाने चले जाते थे। कहीं कुछ हो रहा हो, वहाँ बेकार में अपनी नाक घुसाना। धीरे-धीरे मुझे लगा कि नारों से और इससे कुछ हो नहीं रहा है। ये मेरा अपना मानना था। इलाहाबाद से इंटरमीडिएट करने के बाद बी.ए. करने के लिए देहरादून विस्थापित हुआ। देहरादून में उन दिनों एक कॉमरेड होते थे—मेलाराम नाम था। उनके कारण मैं कम्यूनिस्ट पार्टी के दफ्तर में रहता था। मैंने किराये पर कोई घर नहीं लिया और बहनों के यहाँ रहना नहीं चाहता था। वे (मेलाराम) कहते कि दिन में दफ्तर रहता है, रात में तू यहीं सो जा। मेलाराम पंजाबी आदमी थे, बड़े दिलेर। मेरे खाने की व्यवस्था भी कर रहे थे, मैंने कहा कि मैं कर लूँगा। पंजाब में विद्यार्थी होकर गया। पंजाब में उन

दिनों वामपंथ बड़ा लोकप्रिय था। किसानों के बीच वामपंथी नेताओं का बड़ा आदर था। हमें भी अच्छा लगता था। मुझे दोनों जगह रहकर ये लगा कि आंदोलन ठीक है और सब भी ठीक है, लेकिन कुछ चीजें हैं जो इन दोनों धरातल से बाहर घट रही हैं और उसके लिए मैं जानता था कि इसकी ज्यादा जिम्मेदारी बौद्धिक लोगों की है। यही वजह है कि उस बौद्धिकता का अंश आपको मेरी सारी रचनाशीलता में मिलेगी। उस तरह से एक्सपैरिमेंट करना। मैं निश्चित रूप से बाहर की चीजें भी पढ़ता था। ऐसे में मुझे लगता था कि ये करना चाहिए। अपने शुरुआती दौर में, जब मैंने कविताओं पर ज्यादा ध्यान दिया तो पाया कि मैं एक तरह से कुछ ऐसे सृजनकर्ताओं में हूँ, जिन्होंने यह मान लिया है कि इससे परिवर्तित लिखने का समाज को क्या फायदा हो सकता है? कुछ लोग इससे परिवर्तित हो सकते हैं। उसी प्रयोगात्मक धरातल पर मैंने अपनी कविताएँ लिखीं। फिर मैं सोचने लगा कि मुझे वो काम करना चाहिए, जो दूसरे नहीं कर रहे हैं, और इस जद्दोजहद में कि जो दूसरे नहीं कर रहे हैं, वो मैं कर रहा हूँ। उसी से आप देखेंगे कि कविताओं में भी अपने को बिल्कुल अलग से रखना। हालाँकि, कविताओं के मुख्य विषय वही लगेंगे।

ऊपर से देखा जाय तो औरों की ही तरह।

नारेबाजी और नेतागिरी वाले जो प्रयोग लोगों ने किये हैं, उसी तरह से। लेकिन, मैं यह मानता हूँ कि एक अर्थहीन गुस्से से बेहतर है कि आप एक बहुत जमा हुआ प्रतिरोध व्यक्त करें। लेकिन, दुर्भाग्य या सौभाग्य है कि हमारे यहाँ एक साथ बहुत सारी धाराएँ चलीं और उन बहुत-सी धाराओं में कुछ चीजें नजरअंदाज हो गईं।

ऐसा भी था कि जो साठ के दशक का समय था, जिसमें 'अकविता', 'बीट कविता', 'अभिनव काव्य' जैसी बहुत-सी धाराएँ आ रही थीं; जिसमें बहुत-सी ऐसी चीजें थीं जिसे साहित्यिक कूड़ा कहा जा सकता है। क्या उस समय की रचनाशीलता को लेकर आप लोगों में कोई खींझ थी?

एक बात तो यह थी कि आप उसी धारा में चले जो पहले से चली आ रही है तो यह पिछपेपण ही हो गया। अनुगामिता हो गई। उस अनुगामिता से मुक्ति पाना जरूरी

था। ठीक है, उन्होंने सही विषयों पर बात उठाई थी, लेकिन भाषा इतनी ठहरी हुई चीज नहीं है। भाषा में तो आप निरंतर आगे बढ़ते रहेंगे। अपने प्रयोग करते रहेंगे। उस दृष्टि से वो सारा दौर जो था युवा लेखन का दौर था। वह एक तरह से अपने लिए अभिव्यक्ति के आधार ढूँढ़ रहा था, जिसे मुक्तिबोध प्राप्त कर चुके थे। जिसे वे 'मुझे पुकारती हुई पुकार खो गई कहीं' की तलाश में थे। यदि आप उस दौर की कविताओं को देखिए तो इन कवियों पर लांछन-सा लग गया कि उन्होंने केवल यौनाकर्षण और यौन प्रतीकों को अभिव्यक्ति दी।

बहुत लोगों ने यह आरोप लगायें। गणपतिचंद्रगुप्त ने अपने साहित्येतिहास में कविताओं का कुछ ऐसा अंश भी उद्धृत किया है।

लेकिन, मैं ये बताना चाहता हूँ कि हम तीन कवि थे, जिन्होंने 'विजय' निकाला। मैंने कोई ऐसी कविता नहीं लिखी जो यह साबित करती हो कि मैं यौनाकर्षण के कारण कविताएँ लिख रहा हूँ। हो सकता है कि जगदीश चतुर्वेदी और श्याम परमार का ऐसा सोचना हो, पर मेरी कविताओं में नहीं। हाँ, मेरी कविता में था कि हमें अपने समाज को बदलने की दिशा में बराबर काम करते रहना चाहिए। ये जो सोचना था, वो एक तरह से लेखन-धर्म था। किसी प्रकार का कोई सुनियोजित कार्य नहीं था। हम अपने साथियों से, अपने समवयस्कों से- बांग्ला के समवयस्कों से, तेलगु के समवयस्कों से मिलते रहते थे। आप को आश्चर्य होगा कि उन्हीं दिनों मुझे यह सुविधा प्राप्त हुई। मैं चंडीगढ़ में शोध का विद्यार्थी था। मुझे लगा कि जो मेरे शोध का एक परम क्षेत्र था, जिससे मैं परिचित नहीं था। उसके (भाषा) अध्ययन के लिए मैं सीधा उस्मानिया विश्वविद्यालय (हैदराबाद) चला गया। उस्मानिया में एक समर स्कूल एटेंड किया और वहीं एडमिशन ले लिया। उसका लक्ष्य था कि हम अपनी भाषा की जड़ों को जाने कि वे कहाँ-कहाँ फैली हैं? साठ के दौर की व्याख्या लोगों ने बहुत गलत तरीके से की। गलत टिप्पणियाँ की वो एक महत्वपूर्ण दौर था, उसे वैश्विक स्तर पर देखा जाना चाहिए था। उस काल के युवा लोग (जो हमी लोग थे) समाज के कार्यों में लगे थे। ऐसे लोग इंडोनेशिया, बीजिंग,

फ्रांस जैसे बड़े-बड़े शहरों में थे। ऐसा नहीं था कि यह सब अकास्मिक था। ये लोग बराबर अपने प्रयोगों में लगे थे। मुझे लगता है कि वह महत्वपूर्ण दौर है। उस पर एक जर्मन पुस्तक के कुछ अंश में देखें (अंग्रेजी में आई है वह किताब)। उन्होंने बहुत अच्छी तरह से समझाया है कि १९६० ई. के युवा आंदोलन को आप खारिज नहीं कर सकते। उसने बहुत से सुखद परिणामों की ओर इशारा किया। यह कविता के द्वारा ही संभव हुआ। यही वह दौर था, जिसने विश्व कविता को हिलाया। हिंदुस्तान में उसके बहुत छोटे प्रतिनिधि थे। हमारी ओर लोगों का ध्यान गया; किंतु बाद में उपेक्षा के शिकार हो गये।

क्या आपको याद है आपने पहली कविता कौन-सी लिखी थी ?

पहले तो मैंने बहुत सारे गीत लिखें।

जो सबसे पहली अभिव्यक्ति थी, वो क्या थी ?

उसे कहना चाहिए कि वह बहुत प्रभाववादी कविता है। वो 'तमसो माँ ज्योतिर्गमय' जैसा है। उन दिनों की कविताओं को मैं अपनी कविताएँ तो स्वीकार करता हूँ पर जो व्याख्यान लोगों के सुने थे, उससे प्रेरित था। लोग कहते थे कि हमारा समाज खराब हो रहा है। इसे लेकर मैं उबला हुआ था। ऐसे दौर में मैं किन-किन लोगों से मिला आपको आश्चर्य होगा ? कई प्रकार के राजनैतिक विचारकों से मिलता था। मैं आर्य समाजियों के संपर्क में आया, फिर भूदानियों के संपर्क में आया और उसी दौर में मार्क्सवादियों के संपर्क में भी रहा। वो एक तरह से नैसर्गिक रूपांतरण का दौर था। उसमें हम धीरे-धीरे बदल रहे थे। आरंभिक कविताएँ प्रभाव की कविताएँ हैं। इस तरह की कविताएँ लिखी हैं और कबूल करता हूँ कि मेरी ही हैं। यह आत्मस्वीकृति बेहतर होगी कि वो मैंने कहीं संकलित नहीं होने दी। ठीक है, वो एक दौर में लिखी गई। मैंने साठ के बाद की लिखी गई कविताओं को ही संकलित किया है। साठ के बाद की भी एक दो कविताएँ हैं, ज्यादा नहीं। उस दौर की जो अच्छी पत्रिकाएँ थीं, ससम्मान जगह देने लगी तो हमलोग लिखने लगे।

इसी के साथ यह बात भी जुड़ी है कि यही वह समय था, जब ओ चलकर आपको 'अकहानी' का

प्रवर्तक कहा गया। यह संदर्भ कैसे बना ?

उसका सीधा और पहला संबंध 'अकविता' से जुड़ा हुआ है। हमलोगों ने एक वार्षिक पत्रिका 'अभिव्यक्ति' निकाली। इंद्रनाथ मदान और रमेश कुंतल मेघ उसके संपादक थे। मैं सह-संपादक था। उसमें हमने सोचा कि कविता का रूपांतरण हो रहा है तो कुछ नया किया जाये। उसके लिए (आप आश्चर्य करेंगे) जिन लोगों से पत्र-व्यवहार हुआ, उनमें मुक्तिबोध जी, सर्वेश्वर जी भी थे। उनके पत्र मेरे पास हैं। छापा भी है। उन्होंने बड़े प्रेम से कविताएँ मेरे पास भेज दीं। मुक्तिबोध जी की कविता बड़ी लंबी थी। मदान साहब और कुंतलजी ने कहा कि इतनी लंबी कविता छापेंगे तो बाकियों की कैसे छापेंगे ?

मैं भी संपादक था, मुझे भी कहने का अधिकार था। उसी पत्रिका में हमने नये ढंग की कविताओं पर बातचीत करने के लिए एक कॉलम शुरू किया। हमने एक कवि मित्र से बात की तो उसने कॉलम का नाम 'अकविता' कर दिया। हालाँकि, हमने 'अभिनव कविता' कहा था, तब से यह नाम चल पड़ा। जब मैं दिल्ली आया तो मित्रों ने 'अकविता' के नाम से एक पत्रिका ही निकाल दी। उस नाम का सारे भारतवर्ष में हल्ला हो गया और हम लोग उसके प्रस्तावक हो गये। उसी दौर में क्या हुआ कि इलाहाबाद में एक गोष्ठी हुई। वह गोष्ठी कहानियों पर हुई। मुझे भी आमंत्रित किया गया। मैंने एक निबंध लिखा- 'अकहानी बनाम कहानी' बस उस निबंध ने हल्ला कर दिया। उसके बारे में बड़ी दिलचस्प बात है कि जब वह निबंध वहाँ पढ़ा गया तो उससे पहले पाँच-छः जगहों पर लोगों ने पढ़ने के लिए मुझे मजबूर किया था। डॉ. रघुवंश का कहना था कि बहुत सुविचारित निबंध है, (उन दिनों फोटो कॉपी का दौर नहीं था) एक कॉपी मुझे दे दो। उसे वहीं इलाहाबाद में टाइप करवाया गया। उसकी दो कार्बन कॉपी बनाई गई। एक रघुवंश जी ने ले ली और एक मेरे पास रह गई। जब उसे मैंने पढ़ लिया तो सभी लेखकों के सामने अशक जी ने कहा कि ये तो बहुत अच्छा है, पर तुमने इसे टपकाया कहाँ से ? मैं गुस्सा कर गया। हालाँकि, उन्होंने विनोदपूर्वक कहा था। मैंने बड़ा झगड़ा किया। राकेश ने सुलह कराई।

मोहन राकेश ?

हाँ, मोहन राकेश ने कहा कि तुमने तो बढ़िया चीज लिखी है। असल में, वो पीठिका बनी और उसके बाद 'अकहानी' को लोग ले उड़े। मैं करता क्या हक्का-बक्का देखता रह गया!

क्या इसीलिए लोगों ने इसके प्रवर्तन का श्रेय आपको दिया ?

नहीं, नहीं! जब उसके बाद कहानियाँ लिखी जाने लगीं तो बहुत सारे लेखकों ने अपनी कहानियों के टाइटल तक चेंज कर दिये। आइडिया अच्छा लगा।

आपने 'अकहानी' को लेकर पहली कहानी कौन-सी लिखी ?

'मृत्युभोग' नामक कहानी लिखी। इसके अलावा भी बहुत-सी कहानियाँ लिखीं। मेरी कहानियाँ धर्मयुग में छपनी शुरू हो गयी थीं।

इसका मतलब है कि कविता और कहानी दोनों का लेखन समानांतर चल रहा था।

हाँ, दोनों समानांतर चल रहे थे, पर कविता थोड़ी पहले शुरू हो गयी थी।

लेकिन, कहानी ज्यादा चर्चा में रही। इसके पीछे क्या कारण था ?

हाँ, कहानी ज्यादा चर्चा में रही। ये सारा झंझट इलाहाबाद से हुआ। 'अकहानी बनाम कहानी' शीर्षक निबंध भी पत्रिका में छपा। यह भी एक कारण रहा।

अच्छा, यह सब इलाहाबाद में रहते हुए हुआ ?

नहीं, मैं चंडीगढ़ में रहता था। इलाहाबाद से १९५६ में चला गया था। उसके पाँच-छः साल बाद की बात है। चंडीगढ़ से अक्सर इलाहाबाद आता रहता था। छःसात साल बाद यह रघुवंश जी के 'क ख ग' में छपा था।

इलाहाबाद में रहते हुए निराला जी से मिलने का संयोग ?

मैं तो कई बार मिला। उनके साथ मुलाकात पर संस्मरण भी लिखा। वो कहीं गुम हो गया। अंतिम बार तब मिला, जब कई सालों बाद चंडीगढ़ से इलाहाबाद आया। डॉ. जगदीश गुप्त से प्रार्थना की कि मैं निराला जी से मिलना चाहता हूँ। उन्होंने कहा कि तुम दारागंज आ जाओ। वो

साथ नहीं आये। मेरा दोस्त और मैं दोनों निराला जी के पास गये। दोस्त और मुझे निराला जी ने हड़का दिया। हम मिलने गये तो पूछा, 'हू आर यू? व्हेयर आर यू कम?'

क्या अंग्रेजी में ही बात कर रहे थे ?

एकदम अंग्रेजी में! मैंने कहा चंडीगढ़ से आये हैं। उन्होंने फिर पूछा, 'व्हेयर इस दिज चंडीगढ़?'

मैंने कहा अंबाला के नजदीक।

फिर उन्होंने कहा, आई वाज देयर इन अंबाला'

फिर वो अंबाला के बारे में हाँकने लगे! शानदार अंग्रेजी में!!

हमें बैठाया। अपने बेटों से कहकर चाय-वाय भी पिलायी? एकदम से हमारा अपमान नहीं किया। हमसे बात की। लेकिन सिर्फ अंग्रेजी में इधर-की उधर हाँक रहे थे। जिनसे हमारा कोई तअल्लुक नहीं था। पूछा कि क्या लिख रहे हैं? उन्होंने कोई जवाब ही नहीं दिया।

ये सब कुछ अंग्रेजी में ही बोल रहे थे!

हाँ, पूरी तरह। उस समय तक वे ड्रेल हो गये थे, मेंटली। हम कुछ देर रुके फिर वापस चले आये। यह आखिरी सामना था, निराला जी से। इसके पहले जब जाते थे तो दो-चार मिनट मिलते। उनके स्वभाव में हमेशा बेचैनी रहती थी। उनका शहर में बड़ा रुतबा था। वे कवियों के कवि थे। लेकिन, जब से हमलोगों ने ठीक से जाना, वे मानसिक रूप से विक्षिप्त हो चुके थे। ऐसे में कोई सार्थक डायलॉग नहीं हो सकता था। मैं बाद में कई बड़े लोगों के नजदीक आया, जिनमें रघुवंशजी और रामस्वरूप चतुर्वेदी जी थे। उस दौर में इलाहाबाद बड़ा फर्टाइल था। बड़े अच्छे लोग थे। इस मैत्री में उन्होंने मुझे 'विवेचना' की गोष्ठी में पढ़ने के लिए एक-दो बार आमंत्रित भी किया। बड़े मजेदार अनुभव थे। इस समय तक मैं बड़ा हो गया था। लिखने लगा था।

आपके बारे में यह कहा जाता है कि विश्व-साहित्य का आपको व्यापक अनुभव है। आनपे दुनिया को खुली निगाहों से देखा। उसकी तस्वीर अपने जेहन में कैद की। उसके यथार्थ और रचनाओं से आपका सामना हुआ। इन सब में कुछ को आपने अनूदित भी किया। मैं जानना चाहूँगा कि एक काव्य-सर्जक के रूप में ये

पूरा-का-पूरा अनुभव किस तरह से काम आया ?

जो सीधे परिज्ञान होता है, क्योंकि कविता बहुत ही सशक्त माध्यम है और सशक्त माध्यम तक पहुँचने के लिए उतनी ही बड़ी मेहनत करनी पड़ती है। जो विश्व भर की कविता है, उसे पढ़ने से तीन-चार प्रकार के विचित्र प्रभाव पड़ें। वो ये हैं कि केवल कह देना भर कविता नहीं है। शब्दों के साथ खिलवाड़ करना ही कविता नहीं है। कविता की गहरी समझ जरूर होनी चाहिए। गहरी समझ में आप सही चीज को पकड़ते हैं। मुझे कहना चाहिए कि विश्व कविता के संपर्क में आने से भारतीय कविता को ज्यादा बढ़िया से समझने की समझ विकसित हुई। जिस संस्कृत कविता को हम केवल सूक्तियाँ समझते थे, उस संस्कृत कविता को पश्चिम की कविता पढ़ने के बाद जानने की उत्सुकता हुई, क्योंकि वहाँ तब तक लोगों ने बहुत काम किया था। वहाँ भी हमारे जैसे छंद प्रेमी, एक तरह से जो पारंपरिक सृजन है उसके अनुगामी बहुत हैं। लेकिन, उनके मुकाबले में जिन लोगों ने नये ढंग से अभिव्यक्ति दी थी, उनको देखा तो लगा कि ये बेहतर हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि उसका प्रभाव न पड़ा हो। लेकिन, मुझे ज्यादा चिंता यह थी कि कहीं मौलिकता पर कोई असर न पड़े। उससे बचने की चेष्टा करना भी एक तरह से कवि-कर्म ही था। जो लोग पहले कह चुके हैं, उन्हें दुहराने का कोई मतलब नहीं था। तीसरा यह कि भिन्न-भिन्न भाषाओं को पढ़ते हुए भिन्न-भिन्न देशों की शैलियों से परिचित होना भी अपने आप में विस्मयकारी क्षण था। वहाँ की काव्य-परंपराएँ, वहाँ के कवियों का जीवन, उनके आत्म-संघर्ष की गाथाएँ— इन सबने पूरी तरह से फूल-फोल किया।

अनुवाद तो मैं किसी-किसी के फौरी तौर पर कहने पर कर देता था। आरंभ में मैंने कुछ हिंदी कविताओं का अंग्रेजी में अनुवाद किया, जबकि अंग्रेजी में उन दिनों उतना दक्ष नहीं था। किंतु, अभ्यास से वह दक्षता हासिल की। जिन अखबारों में लेफ्ट के बहुत कम लोग छपते थे, उनमें मैं बड़े आराम से छपता था। मेरी केशव मलिक से मैत्री थी तो मैं 'थॉट' में छपता था। वो कहते कि इसका अनुवाद कर दो। मैं कहता अच्छा नहीं होगा। वे कहते कि करो।

एक बार मैं नहीं हो तो दुबारा, तिबारा करो। इसी परिश्रम का लाभ हुआ कि बहुत सारे दूसरे देशों की जो कविताएँ अंग्रेजी में आ रही थीं, मैं उनका अनुवाद करने लगा। फिर बाद में मैंने सोचा कि भाषाओं को सीखना बड़ा जरूरी है। मेरी पत्नी भाषा सीखने लगी। मेरे बच्चे सीखने लगे। इस तरह एक ही परिवार में चारों लोग भाषाएँ सीखने लगे।

उन दिनों आपने कौन-सी भाषाएँ सीखीं ?

मेरी पत्नी बल्गेरियन सीख रही थी तो मैं बल्गेरियन सीखने जाने लगा। इस भाषा से कविताएँ भी अनूदित की। मेरे बेटा-बेटी रूसी सीख रहे थे तो वह भी सीखने लगा। इस तरह हमलोग एक स्लाप परिवार की भाषा सीख रहे थे। मेरा प्रयोजन भाषा सीखने से पदवी हासिल करना नहीं था। मैं तो यह देख रहा था कि क्या इससे काम चला सकता हूँ? काम चलाऊ बोलचाल की भाषा सीख ली। उसका उपयोग करने लगा। लेकिन, बाद में यह महसूस हुआ कि भाषा सीखना एक तरह से बड़ा कृत्रिम काम है, क्योंकि भाषा सीखने में बहुत अनिवार्य नहीं है आप उस साहित्य के प्रति वही अनुराग पैदा कर सकें जो मूल में पैदा हुआ करते हैं।

जो उसका सांस्कृतिक पहलू है, क्या वह कहीं-न-कहीं छूट जाता है ?

हाँ, मैंने बाद में भाषा सीखनी छोड़ दी। मुझे लगा कि कवि होना ही पर्याप्त है। हर भाषा के कवियों का अपना संघर्ष है, और उससे जूझ कर ही वे काव्य-सर्जना करते हैं। दूसरा यह है कि जो मूल भाषा में पैदा हुआ है, हम सीखकर भी उसके मुकाबले में आ ही नहीं सकते। ऐसे में लगा कि यह व्यर्थ का काम है, क्यों टाइम वेस्ट करें। इससे अलग हो गये। लेकिन, इसका अर्थ यह नहीं कि भाषाओं के प्रति अनुराग कम हो गया, बल्कि आप पायेंगे कि मैं कहीं किसी इलाके में गया तो वहाँ की स्थानीय भाषाओं को जानने की कोशिश की। भाषाओं के प्रति आकर्षित हुआ। इस तरह से मैं कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ पूरे माहौल के प्रति। जिसने दुनिया भर के साहित्य के करीब लाने का अवसर दिया। मैंने अद्भुत साहित्य पढ़ा। दोस्तों को बाँटा। लोगों से बातचीत की। कई मुद्दों पर मित्रों से झगड़े भी हुए। कई बार झगड़ों के कारण मेरा कई छद्म

नामों से लिखना भी रहा। यह भी एक प्रकार की आत्मस्वीकृति है। लोग पकड़ने की कोशिश करते कि कौन लिख रहा है? मैं इंकार करता कि मैं नहीं लिख रहा हूँ, पर शैली तो थोड़ी बहुत पकड़ में आ जाती है।

हाँ, वो एक विशिष्ट तरह की ही हो जाती है। जिसे भाषा और अभिव्यक्ति के अंदाज से पकड़ा जाता है।

हाँ, मैंने बड़े लेखकों के विरुद्ध लिखा। दोस्तों के खिलाफ लिखता रहा।

आप किन-किन नामों से लिखते थे?

एक नाम रखा— अनिल कुमार घई। दूसरा नाम रखा— दिवाकर दत्त। तीसरा नाम रखा— उर्वी दत्त। एक और नाम मैंने चुना था— फणी तलपक नागेश्वर। इस तरह मैं इन चार नामों से लिखता रहता था।

ये सब कहाँ छपते थे?

अच्छी-अच्छी पत्रिकाओं में। अनिल कुमार घई 'सारिका' में छपता था। दिवाकर दत्त भी 'सारिका' में छपता था।

लोगों ने खोजने की कोशिश की?

खोजने वाले खोज लेते हैं। उन्हें दिक्कत नहीं होती। लोगों ने पता किया और चेक पर मेरा नाम देखा तो समझ गये कि ये चेक कौन ले रहा है? फिर मेरा बायकाट भी हुआ।

जब तक पता चलता होगा, मामला ठंडा पड़ चुका होता होगा।

ठंडा नहीं पड़ता था, मामला गरम ही रहता था।

विश्व साहित्य को पढ़ते हुए किस देश के साहित्य ने और किस कवि ने सबसे ज्यादा प्रभावित किया?

बहुत सारे लोग हैं।

दो-तीन बेहद महत्वपूर्ण लोग!

जो ज्यादा पढ़ाई की मैंने वह अनुवाद से। अनुवाद के रूप में बहुत चीजों को पढ़ा। हम सब मित्र अंग्रेजी भाषा के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं कि हमने अंग्रेजी के साहित्य को पढ़ा। हमें अंग्रेजी में एक से बढ़कर एक निबंधकार, कवि और कथाकार की किताबें पढ़ने का अद्भुत संयोग मिला। उस दौर में अंग्रेजी की किताबें सब जगह मिल जाती थीं। लाइब्रेरी में मिल जाती थीं। खरीद लेते थे। उधर माँग लेते थे। दोस्तों के पर्सनल लाइब्रेरी में जो मिलती थी,

वो पढ़ते थे। इसके साथ ही अंग्रेजी में अनूदित साहित्य भी उपलब्ध हो जाता था।

रूसी साहित्य के ढेरों अनुवाद हुए थे।

हाँ, रशियन साहित्य भी। किताबों को लेने का जो सबसे बड़ा सोर्स था, वो चोरी थी। किसी के यहाँ जाओ और उसकी किताब चुरा लो, वो रोता रहे। मैं तो लौटा देता था। मैं तो एक बार मदान साहब (इंद्रनाथ मदान) की किताबें चोरी करके ले आया। उन्हें अपनी किताबों की बड़ी चिंता रहती थी। उन्होंने मुझे एक-दो पोस्टकार्ड लिखें कि मेरी किताबें पता नहीं कौन ले गया? मैंने दो-चार दिन जवाब नहीं दिया, फिर मैंने चिट्ठी लिखी कि आपकी किताबें मैंने चोरी कर ली थी, वापिस करता हूँ। हमलोगों को कुछ अर्से बाद पता नहीं कहाँ से बड़ी सुविधाएँ प्राप्त हो गई थी? यह भी बड़ा चमत्कारिक विषय था। बाद में लोगों ने बताया कि ये सी.आई.आई. द्वारा प्रेरित था। हमलोगों को बड़ी अच्छी आठ-दस विदेशी पत्रिकाएँ मिलने लगीं। तमाम वामपंथियों को मिलती थीं। हमें भी मिली। जो मुख्य लगाव हुआ पश्चिमी देशों के साहित्य; जैसे-फ्रांसीसी, स्पानी इसके लिए प्रयत्न करना पड़ा। खोजना पड़ा। जब मैं दिल्ली आया तो विद्यार्थियों को पढ़ाने के लिए मुझे जो विषय मिला वह भी कुछ ऐसा ही मिला। फिर, जब मैं बल्गेरियन साहित्य के निकट आया तो लंबे समय तक इससे जुड़ा रहा। पहले भाषा जाने बगैर अंग्रेजी से अनुवाद किया। फिर भाषा सीखी जो सीधे अनुवाद किया। रूसी अनुवाद भी किया। लेकिन, रूसी अनुवाद हमारे दोस्त वरियाम सिंह बहुत बढ़िया कर रहे थे।

जी, उन्होंने तो बहुत महत्वपूर्ण काम किया है।

हाँ, बेहद अच्छा अनुवाद है। इस तरह दुनियाभर के साहित्य का अनुवाद करते रहें। अब भी किसी भारतीय भाषा की कविता किसी अन्य भाषा में छपती है तो मैं उसका अनुवाद कर डालता हूँ और पूरी तरह संतुष्ट होने पर ही छपने के लिए देता हूँ।

वो कवि जिसने सबसे ज्यादा प्रभावित किया?

बहुत कवि हैं। आप जिनके संपर्क में आते हैं, उनको पसंद करने लगते हैं। बल्गेरियन में कई बड़े कवि मेरे अच्छे दोस्त बन गये थे। वे बड़े पसंद आयें। आज भी

पसंद आते हैं। अब उनको अनुवाद नहीं करता। लेकिन, उनकी नई-से-नई कविता मिलती है तो उसको पढ़ता हूँ। घर में हम दो लोग तो समझ ही लेते हैं। नहीं समझ में आये तो किसी तीसरे को पकड़ते हैं। एक तरह से बल्गेरिया ही एक ऐसा क्षेत्र है जिसकी बहुत सी चीजें मुझे बड़ी पसंद आई हैं। एक बड़े बढ़िया कवि हैं, उनका नाम है एलन पो लियोविल लिपचो। 'लियोविल' आ अर्थ होता है 'शांत लव।' अर्थात् शांत लव को चाहने वाला। ये बड़े प्रयोगधर्मी कवि हैं। अभी जीवित हैं। हमों लोगों के आयु हैं। इस तरह बहुत अच्छे-अच्छे लोगों के संपर्क में आया। उनके पुराने बड़े कवियों से भी मिला। एक एलिजाबेथेन बल्गेरियन थी। उनसे मिला। १९६८-६९ ई. में उनकी कविताएँ पढ़ी थी। अंग्रेजी से अनुवाद भी किया। फिर मैंने उनकी एक छोटी-सी किताब अनुवाद ही कर डाली। उन दिनों थोड़ी सुविधा कि वह छप गई, इसलिए रास्ता खुल गया कि और अनुवाद करें। उनसे मैं मिला भी। मुझे तीस-चालीस साल बड़ी थीं। मुझे विश्व के अच्छे कवियों से मिलने का संयोग प्राप्त हुआ। उसे मैं प्रारब्ध लिखित ही कहता हूँ। लेखक सम्मेलनों में जाता था तो बहुत से लेखकों-कवियों से मिलने का मौका मिला। कई असली कवि, कई यश लोभी कवि से मिला। तब समझ में आया कि कविता की दुनिया कैसी है? तब समझ में आया कि जैसी कविता की दुनिया हिंदुस्तान में, वैसी ही दुनिया के दूसरे देशों में भी। उससे भिन्न नहीं है। लेकिन, अच्छे कवि निश्चित रूप से एक समाज में होते हैं और वे बराबर अपने काम में लगे रहते हैं। उनसे ही कविता की दुनियाँ की प्रतिष्ठा बनी हुई है, अन्यथा उसके निचले धरातल पर आओ तो लगता है कि यह एक व्यर्थ का काम है। भाषा से खिलवाड़ करने वाले लोगों का काम है।

आप ने अंग्रेजी का गहन अध्ययन करते हुए टी.एस. इलियट को पढ़ा। लगभग वही समय था अब आचार्य रामचंद्र शुक्ल 'हिंदी शब्द सागर' की भूमिका के रूप में 'हिंदी साहित्य का इतिहास' लिख रहे थे। मनोविकारों पर आधारित महत्त्वपूर्ण निबंध लिख रहे थे। सूर, तुलसी, जायसी की व्यावहारिक समीक्षा कर रहे थे। इनकी आलोचना इलियट की ही भँति 'कृति' को केन्द्र में

लेकर चलती है। इलियट को विश्व के सबसे बड़े साहित्यिक आलोचक के रूप में देखा जाता है। कभी-कभी हमारी पीढ़ी और प्रायः पूर्व की पीढ़ी यह मानती रही है कि आचार्य शुक्ल के आलोचना कर्म या निबंधों का अनुवाद हुआ होता तो शायद वे इलियट से कमतर आलोचक न होते! उनकी एक वैश्विक छवि होती। इस संदर्भ में आपकी क्या राय है?

इसके कालखंड का पूरा अध्ययन कर लेना चाहिए; क्योंकि इलियट जो हैं, वो पश्चिम की पहली पंक्ति के लेखक हैं। जितने सर्जनात्मक लेखक हैं, उतने आलोचनात्मक नहीं। वो एक ऐसे कवि हैं, जिनकी ख्याति कविताओं के कारण पहले ही हो चुकी थी; फिर उन्होंने निबंध आदि लिखा। ऐसे में आचार्य रामचंद्र शुक्ल से तुलना नहीं की जा सकती। दूसरा यह कि इलियट को कहना चाहिए कि जो एक वैश्विक उच्चता है, वे उसके प्रतीक हैं। सिर्फ अंग्रेजी के कवि-लेखक नहीं हैं। जिन लोगों ने विश्व के प्रश्नों को लेकर आविष्कार किए हैं, सृष्टि की प्रवृत्तियों को मोड़ा है, जैसे- डार्विन और फ्रायड आदि- ठीक इसी तरह से टी.एस. इलियट हैं। उन्होंने जो सैद्धांतिक स्थापनाएँ की हैं, वे केवल अंग्रेजी के संदर्भ में नहीं हैं। उसके बाहर एक्सटेन कर जाते हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल जो उस कालखंड में भले ही पैदा हुए हैं, लेकिन, उन्होंने इलियट की तरह से काम नहीं किया। रामचंद्र शुक्ल तो प्रभाववादी लेखक हैं। उन पर पश्चिमी अंग्रेजी निबंधों का गहरा प्रभाव है। शायद जिस तरह वहाँ अंग्रेजी में मौलिक निबंध लिखे गये, उसी तरह उन्होंने हिंदी में मौलिक निबंध लिखने की परंपरा कायम की। शैली की दृष्टि से सीधे-सीधे प्रभाव न कहें, परंतु आचरणगत प्रभाव है। ये एक नया साहित्य है और आचार्य रामचंद्र शुक्ल इसके पुरोधा हैं, इसमें कोई शक नहीं। रामचंद्र शुक्ल उस अर्थ में 'माडर्न' नहीं हैं, जिस अर्थ में टी.एस. इलियट हैं। इलियट एक घोषित सभ्यता के अग्रणी लेखक हैं, जिनमें बहुत सारे क्लैसिक अपना अस्तित्व बताते हैं कि हम कौन हैं? रामचंद्र शुक्ल पहले लेखक हुए हैं, उन लेखकों की पहली व्यवस्थित आलोचना करने वाले। हालाँकि, बड़ी भोथरी आलोचना की है। परंतु, इतना कहना पड़ेगा कि वे हिंदी के

पहले आलोचक थे, जिन्होंने तार्किक ढंग से काम किया। हिंदी जो थी वह बनने वाली भाषा थी। उसका साहित्य पूरी तरह से बना नहीं था।

छायावाद का दौर चल रहा था।

खड़ी बोली हिंदी गद्य का जो दौर था, जिसे भारतेन्दु ने शुरू किया था- वह अभी इतना समृद्ध नहीं हुआ था।

हाँ, प्रेमचंद, प्रसाद, निराला का श्रेष्ठ आना बाकी थी।

तब मैथिलीशरण गुप्त वगैरह थे जिन की कविताएँ- इतिवृत्तात्मक होती थीं।

मान लेते हैं कि ये कविताएँ उस दौर में बहुत महत्वपूर्ण लोकप्रिय कविताएँ थीं, लेकिन, उसे हिंदी कविता का सर्वोच्च नहीं माना जा सकता। मैथिलीशरण गुप्त के समकालीन और उनसे पहले रामनरेश त्रिपाठी, हरिऔध उनसे बड़े कवि थे। चूँकि, मैथिलीशरण गुप्त अपने ढंग के कवि थे, और महावीर प्रसाद द्विवेदी ने उनको और आगे बढ़ा दिया। लेकिन, इससे कोई अंतर नहीं पड़ता। रामचंद्र शुक्ल हिंदी के संदर्भ में निश्चित रूप से एक बड़े गद्यकार थे। बड़े विचारक और चिंतक थे। उनके चिंतन को तुलसीदास, जायसी, सूरदास पर देखा जा सकता है। उनकी स्थापनाएँ बड़ी विचलित करती हैं आजकल कि वे कैसे लोग थे? अंग्रेजी के साहित्य से हिंदी साहित्य की तुलना ही नहीं की जा सकती; क्योंकि अंग्रेजी का सृजन पिछले कई सौ सालों से चल रहा था, जबकि हिंदी का अभी शुरू ही हुआ था। हम बोलियों के साहित्य को हिंदी में इसलिए शामिल कर लेते हैं कि हमारा साहित्य बोलियों का साहित्य है। हिंदी का जन्म बोलियों से हुआ है। यदि अवधी और ब्रज की साहित्य को हिंदी से काट दें तो हिंदी के पास अपना कहने के लिए कुछ नहीं है।

फिर तो बीसवीं शताब्दी से ही शुरुआत करनी होगी।

हाँ, क्योंकि, हिंदी के बोलियों के साहित्य के जो महत्वपूर्ण लेखक हैं, उनमें तुलसी और कबीर बड़े ही महत्वपूर्ण हैं। लेकिन, ये हैं बोलियों के। हिंदी वहाँ से शुरू होती है। हम अपनी परंपरा वहाँ से मानते हैं। आप देखेंगे कि कवित्व की दृष्टि से, विषय की दृष्टि से तुलसी जैसा कोई कवि दिखाई नहीं देता। यहाँ तक कि तात्त्विक विचार की दृष्टि से भी हम इसे छोटकर देख सकते हैं। दिव्यता एक

तात्त्विक विचार है। साहित्य की कितनी छवियाँ हो सकती हैं, उसका परिज्ञान हमें रामचंद्र शुक्ल ही कराते हैं। वही बताते हैं कि जायसी में क्या है?

जी, वैसे भी इन कविताओं का जो काव्य-सौंदर्य उन्होंने उद्घाटित किया, वह फिर आगे नहीं बढ़ पाया, उसमें कुछ जुड़ा नहीं।

हिंदी के संदर्भ में रामचंद्र शुक्ल बहुत महत्वपूर्ण हैं, पर विश्व साहित्य और टी.एस. इलियट के संदर्भ में रामचंद्र शुक्ल को रखना थोड़ी ज्यादाती होगी।

जहाँ एक ओर विश्व साहित्य को पढ़ने-समझने का लाभ मिलता है, वहीं दूसरी ओर कभी यह बाधक भी बनता है? क्या कभी आपके समकालीनों ने आप पर यह आरोप लगाया कि जो आपकी बौद्धिक छवि है- वह आपके साहित्य में भी दिखाई पड़ती है?

नहीं, मैं बहुत सजग रहा। वो चीज लेता ही नहीं था। वो विषय चुनता ही नहीं था। इस सजगता का लाभ यह हुआ कि बाद में भी अपनी मौलिकता के प्रति आसक्त रहा। ये इस कारण भी था कि जो लोग कह चुके हैं, उसे दुबारा कहने की आवश्यकता क्यों पड़े? आप दूसरा प्रेम लो, दूसरी चीज लो। इस कारण, इस खोज में बेहतरीन चीजों की ओर मुड़ना हुआ। इतना जरूर जानता हूँ कि बहुत सारे लोगों ने प्रेम भी किया, चौखटा भी लिया, विषय भी लिया और आधार भी लिया; लेकिन मैंने ऐसा नहीं किया। मेरे मन में सबसे बड़ी उधेड़बुन यह थी कि मैं बाहर का लेखक नहीं हूँ। यह भाषा (विदेशी की) मेरी अपनी नहीं है, इसलिए उनसे मेरा अपनत्व नहीं हुआ। बाहर की भाषा है, विदेशी है; इसीलिए मैं उससे कटा रहा। जो मेरा न है, उसे कैसे अपना लूँ और जो मेरा था, उससे अपरिचित था। फिर, मैंने संस्कृत पढ़ना शुरू किया। बड़े होकर संस्कृत की ट्यूशन की। उसके साहित्य को पढ़ा। मुझे लगा कि ये मेरा है। असली चीज यही है। उसमें मुझे कहने में अच्छा लगता है। जिस संस्कृत को हम घोर पुरातन पंथी कहते हैं, उस संस्कृत में जो कालजयी कृतियाँ हैं, वे सदैव नयी रहती हैं। कालिदास सदैव नए हैं। 'मेघदूत' के बादल घुमड़ेंगे, आप आश्चर्यचकित रहेंगे कि ये देखो इसके हाथों संदेश भेजा जा रहा है। वो जो ऊपर

से जा रहा है, नीचे धरती के हाथ...सारी बातें उसे पता है। उसका भूगोल, उसका रंग, उसका गीत, उसका संगीत सब। ये हमारे देश की शक्ति है। ईश्वर की बड़ी कृपा मानता हूँ कि मुझे मेरे देश की ओर लौटाया, अन्यथा मैं बर्बाद हो गया होता। पश्चिमी रंग में रंगता तो सब खत्म हो जाता। वो अच्छा हुआ कि उस रंग का असर न हुआ। मैं हिंदूवादी दृष्टि से भी अपने को भारतीय मानने के लिए कबूल हूँ। मैं भारतीय हूँ।

आप दिल्ली में लंबे समय से रहते हैं। जे.एन.यू. से जुड़े हैं। दिल्ली में हिंदी-अंग्रेजी का जो बौद्धिक समाज है, उसमें आपकी अच्छी खासी पैठ है। आपको नामवर सिंह, मैनेजर पाण्डेय, केदारनाथ सिंह का सान्निध्य प्राप्त है। इस दृष्टि से देखा जाये तो हिंदी आलोचना के साथ आपको गहरा जुड़ाव है। क्या कारण है कि कविता, कथा, अनुवाद में सक्रिय लेखन के बावजूद हिंदी आलोचना में आपकी उतनी चर्चा नहीं होती, जितने के आप हकदार हैं? इससे क्या आपको ऐसा लगता है कि आप पर ईमानदारी के साथ जितनी बात होनी चाहिए, उतनी नहीं हुई है? यह अलग बात है कि आप रचना को पाठक के हाथ में सौंप देते हैं; लेकिन हर दौर में अपने समानधर्मा पर लोगों ने लिखा। उन पर भी लिखा, जिनमें दम नहीं था। अपने आलोचना-कर्म से जहाँ तक आगे ले जा सकते थे, ले जाने की कोशिश की। हिंदी समाज में ज्यादातर लोग आपको सिर्फ और सिर्फ 'अकहानी' के प्रवर्तक के रूप में ही जानते हैं। इन सब पर आप क्या कहना चाहेंगे?

एक तो यह मानना चाहिए कि लेखक बेचारा होता है। उसे अपेक्षा होती है कि उसके लिखे हुए को कोई सराहे। एक जनपक्ष होता है, जहाँ उसकी चीजें बिकती हैं, लोग पढ़ते हैं। दूसरा होता है बौद्धिक पक्ष, जिसमें आपके आलोचक, समीक्षक इत्यादि आते हैं। वो आपको कैसा पेश करते हैं, क्या करते हैं? तीसरा पक्ष होता है— जो आप अनुवाद की दुनिया से दूसरी तरफ फैलते हैं। मैं कहूँ कि मैं भी बेचारे और दुखी लेखकों में हूँ। मेरी तरफ लोगों का बड़ा कम ध्यान गया। इसके दो-तीन कारण थे। एक बार मैंने नवलजी (नंदकिशोर नवल)

से पूछा कि यार कोई मेरी किताब की समीक्षा ही नहीं करता। उन्होंने कहा कि तुम देते हो। मैंने कहा कि मैं क्यों दूँ? लेखक ये क्यों करेगा? उन्होंने कहा कि वो क्यों करेगा? तुम्हें देनी चाहिए। पचास वर्ष तक मैंने किसी को किताबें नहीं दीं। मैं नामवर जी तक के पास नहीं गया। हाँ, दूसरी किताबें देने के लिए गया। लेकिन, कभी अपनी किताब लेकर नहीं गया। मुझे बाद में ध्यान आया कि अरे यार! मैं अपनी बहनों, भाइयों, ठेकेदार मित्रों, पड़ोसियों को किताबें दे रहा हूँ। ये तो बिल्कुल बेकार है, फिर मैंने किताबें देनी शुरू की। एक कारण तो यह था कि मैंने ध्यान नहीं दिया। लोगों से नहीं कहा।

दूसरा मेरे अंदर प्रतिहिंसा भी रही। मैं आपको सच कहना चाहता हूँ कि इन्सिग्नफिकेन्ट राइटिंग को बड़ा बनाने की आलोचकों ने बराबर कोशिश की। मेरी निगाह में हिंदी आलोचक ईमानदार आलोचक नहीं है, क्योंकि इन्सिग्नफिकेन्ट चीजों को अपने स्वार्थों के कारण (ये मैं साफ कहता हूँ, अब भी कहता हूँ)। इसके कई तरह के कारण हैं। मैं इसे बड़े मजेदार तरीके से एनालायसिस करता हूँ— कभी जातिगत लगाव, कभी प्रांतीय लगाव होता है। मैंने प्रतिहिंसा के तौर पर एक बार प्रयोग किया। मैं एक शहर में गया, सारे दोस्तों को लेकर। उस शहर के नीचे एक पहाड़ी को देख लिया तो मैं पहाड़ियों की कविताओं की तारीफ करने लगा। मेरे दोस्त जलने लगे। उन्होंने कहा कि यह क्या हो रहा है? मैंने कहा कि यह सब जगह होता है। मैं ये बताना चाहता हूँ कि जो इन्सिग्नफिकेन्ट राइटिंग की पैरोकारी करते हैं, एक तरह से अहित करते हैं। एक सिग्नफिकेन्ट राइटिंग को आगे नहीं आने देते। हिंदी में एक कवि की हत्या के लिए मैं सबको जिम्मेदार ठहराता हूँ। अद्भुत कवि था— देवेन्द्र कुमार बंगाली। वो बेचारा दलित था। हो सकता है लोगों को पता चल गया हो। जिस तरह से दलित के हाथ लगने से अपवित्र हो जाते हैं, उसी तरह उसके साहित्य से भी शायद अपवित्र होते होंगे। कई बरस वो और मैं एक ही कमरे में रहे। उसने खुद मुझे कहा कि मैं दलित हूँ। मैंने कहा कि क्या हो गया? दलित आदमी नहीं होते? मनुष्य हो तुम, आओ। मैं उन लोगों में

से था कि आधा कप चाय उसे पिला रहा हूँ और आधा वो मुझे। दोनों एक-दूसरे का जूठा पी रहे हैं। मुझे कोई संकोच न था। लेकिन, उसके प्रति, ऐसे बहुत सारे अच्छे लेखन के प्रति उपेक्षा हुई इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। मेरे साथ भी हुआ, इसलिए भी होना चाहिए था कि मैं अक्कड़ से भरा रहता था— भांड में जाओ, मैं नहीं करता। ये जो अक्कड़ थी, इसका भी मुझे भुगतान पड़ा।

दूसरा यह था कि मैं राजनैतिक रूप से एक समाज चेता आदमी होने के साथ-साथ पिछलगू नहीं था। मैं बड़े-बड़े राजनैतिक मसलों में बड़े लोगों से मिलता था, लेकिन उनकी शर्तों पर नहीं चलता था। मेरे मन में आज भी ये प्रतिहिंसा है कि राजनैतिक लोग कभी ईमानदार नहीं होते। आज भी आप मेरा कोई राजनीतिज्ञ दोस्त नहीं देखेंगे। मेरा नियम यह है कि मैं किसी मिनिस्टर के फंक्शन में नहीं जाता। मेरे विद्यार्थी ही चाहें क्यों न मिनिस्टर हो जायें साहित्य में भी ऐसे राजनीतिज्ञ रहें, जो मुझे पसंद नहीं आये। मैं कभी उनके पास गया ही नहीं। मैंने कहा कि भई मुझे किताब नहीं देनी। मेरे लिए सबसे प्रिय और वरेण्य आदरणीय वे सर्जनात्मक लेखक ही रहे हैं: जैसे—केदार जी हैं। उनके लिए मैं कुछ भी कर सकता हूँ। ऐसे और भी दूसरे लोग हैं। स्त्री लेखक हैं। मेरी बड़ी मैत्रियाँ हैं, उनके प्रति। उपन्यास की बात बताऊँ कि मेरे चारों उपन्यास इन्सिग्नफिकेन्ट विषयों पर नहीं लिखे गये। प्रयोगधर्मी हैं। आप अस्वीकार कर सकते हैं। डिसएग्री हो सकते हैं।

दूसरा जो बता रहा हूँ वो बड़ी ध्यान देने की चीज है। प्रकाशन की दुनिया बहुत क्रूर दुनिया है, लेकिन पता नहीं मेरे साथ यह न्याय कैसे हो गया? इससे मुझे कुछ यकीन होने लगता है कि कोई पराशक्ति है। मेरी पहली किताब भारत के सबसे बड़े प्रकाशन में छपी। प्रेमचंद पर लिखी थी। उस किताब से धन तो मिला ही, मैं सभी जगह पहुँचा भी।

ये कब छपी थी ?

सन् १९६५-६६ ई. के आसपास। मैं १९६४ ई. में पी.एचडी करके निकला ही था। इसके बाद मेरी कहानी की किताब छपी। मेरा पहला उपन्यास छपा। ये तीनों किताबें राजकमल से प्रकाशित हुईं। अचानक मुझे लक्ष्मीचंद्र

जैन ने कहा कि तुम हमें किताब नहीं दे रहे हो तो उन्हें दी। इस तरह दो किताबें ज्ञानपीठ से छपी। मेरे एक दोस्त थे महेन्द्र कुलश्रेष्ठ मुझसे दस साल बड़े। वो राजपाल में आ गये थे। उन्होंने कहा कि हम तुम्हें नगद पैसा देते हैं, एक किताब हमें भी दो। लेकिन, आपको सच बताऊँ कि पैसे से मेरी बड़ी दुश्मनी थी। जरूरत हुए भी। राजपाल से भी किताब आई। इस तरह आप देखें कि मेरी चीजें अपने आप छपी, मुझे कहीं जाना नहीं पड़ा लोगों को अपनी कविता की किताब छपवाने के लिए बड़ी मेहनत करनी पड़ी। मैं आपको सच कहता हूँ कि मुझे यह भी नहीं कहना पड़ा कि छापिए। फिर भी, मेरी किताबें छपी। जो मेरे जैसे आदमी द्वारा लिखी जा रही कविता थी, न तो पार्टी द्वारा अनुमोदित थी, न ही ग्रुप्स द्वारा। वो छपी और बिकने लगीं। इस तरह से एक साथ मेरी दस-ग्यारह किताबें आ गयी। अब भी मैं किसी को देता हूँ, कोई दिक्कत नहीं होती। तुरंत छापते हैं। यह पहली बार हुआ कि 'इतना कुछ' शीर्षक संग्रह मैंने एक प्रकाशक को दिया और सरकार में चला गया। मैंने उससे कहा कि आपकी कोई मदद नहीं कर पाऊँगा। मैं अपनी किताब नहीं खरीदूँगा और शायद आपकी भी नहीं। उसको बड़ा बुरा लगा कि एक तो मैं इनकी किताब छाप रहा हूँ और ये...। उसने किताब छपी। लगातार तीन बार छपी। मेरे कहने से नहीं, पता नहीं कौन सी डिमांड हुई। मैं अब भी किसी कमेटी में होता हूँ तो अपनी किताबें परे कर देता हूँ। उसका नतीजा यह हुआ कि मेरी किताबें सरकारी पुस्तकालयों में कम मिलेंगी। अब खरीदी जाती हों तो नहीं बता सकता। आप कल्पना कर सकते हैं कि मैंने दो किताबें सरकार के लिए तैयार कीं, मैं अपनी पर्सनल कॉपी नहीं खरीद पाया और उसके एडिशन समाप्त हो गये। इसीलिए मुझे लगता है कि जो दूसरा काम है न्यायपूर्ण चल रहा है। मैं किसी को कुछ कहता नहीं। आज तक मैंने किसी प्रकाशक पर मुकदमा नहीं किया। अपने ढंग से देता है। एक प्रकाशक ने एक किताब छपी और मुझे कुछ देना भूल गया। कुछ साल बाद उसने कहा कि मैंने आपकी किताब की रिप्रोड्यूशन कर दी है। मैंने कहा कि अच्छी बात है। फिर वह पैसे देने आया। मेरा नियम है कि मैं पैसे के लिए किसी प्रकाशक के पास नहीं

जाता, दे या न दे। इस तरह, ये भी मेरा प्लस प्वाइंट है।

जो तीसरा वाला है वो अनुवाद वाला- मैं ही इतना तेज हूँ कि मैं फट से अनुवाद करा लेता हूँ या फिर लोगों के अनुवाद करता हूँ तो लोग मेरा अनुवाद कर देते हैं। हालाँकि, जिनका मैं अनुवाद करता हूँ वो मेरा नहीं करते पर यह होता रहता है और उस दुनिया में मैं ठीक हूँ। ऐसे में मैं सोचता हूँ कि साहित्य में मेरे साथ भयंकर अन्याय नहीं हुआ है। लोग नहीं याद करते न करें। जो असली परीक्षा है, वो है कि हम अपने विगत साहित्य में कैसे साहित्य को याद करते हैं? उस साहित्य के मुताबिक होना जरूरी है। ये जरूरी नहीं कि हम अपने दोस्तों से मनमाफिक लिखवा लें। मुझे तो कई बार संकोच होता है। आप लोगों को कह दूँ तो पढ़ने के बाद मन में गहरा दुख होता है कि इन्होंने ऐसा तो कहने पर लिखा है। संकोच और शर्म-जैसे लगता है कि चोरी की हो। लेकिन, फिर भी मुझे लगता है हिंदी आलोचना पर यह आरोप सही है कि उसमें बहुत अच्छा नहीं लिखा जाता।

ये आरोप तो नामवर जी जैसे आलोचक पर भी लगते रहे हैं।

उन्होंने (नामवर जी) स्वीकार भी किया न कि मैं फरमाइश के लिए भी करता हूँ। लोग कहते हैं तो मैं कर देता हूँ। एक बात इसमें जरूर कहनी है जो कि बहुत संगत है, वो यह है कि मैं लोगों से कहता हूँ कि मेरा नाम रामचंद्र शुक्ल ने भी लिखा है। अपने 'हिंदी साहित्य का इतिहास' में, क्या हुआ कि वो मेरे लेखन में आने से पहले मर गये? उनके इतिहास में देखिए आप 'ये नये कवियों इत्यादि ने' लिखा है। उस इत्यादि में हमी लोग हैं। (ठहाके लगाते हैं)

एक ओर बीसवीं सदी का अंतिम दशक- जहाँ वैश्वीकरण और भूमंडलीकरण की बात हो रही थी, दुनिया बदल रही थी; और दूसरी ओर इक्कीसवीं सदी का पहला दशक- जो बिल्कुल तकनीक से भरा हुआ है, यहाँ दुनिया बदलने की रफ्तार और बढ़ गयी है (जहाँ बीसवीं सदी के अंतिम दशक में यह कल्पना भी नहीं की थी कि इतने इलेक्ट्रॉनिक गैजेट्स आ जायेंगे) तो इन दोनों दशकों के बीच में जिस साहित्य की सर्जना

हुई है, उसका अंतर क्या है और तकनीक के साथ साहित्य का क्या संबंध बनता है?

बहुत बढ़िया आपने कहा कि ये दो निर्णायक दशक हैं, क्योंकि अंतिम दशक में बहुत महत्वपूर्ण हिंदी लेखन सामने आया है और उस महत्वपूर्ण हिंदी लेखन का जो गहरा जुड़ाव रहा है वो भारत से रहा है। एकदम से हम विश्व के सामने आ खड़े हुए। विश्व के सामने खड़े होने पर एक नई प्रविधि भी सामने आ गई। लेकिन, हम अभी तक अपने उस पूर्व भारतीय जुड़ाव से मुक्त नहीं हैं, वो बराबर बना हुआ है। अब जहोजहद और कोशिश यही है कि ये जो नई स्थिति है, इस स्थिति में हम अपने आपको कैसे ठीक से अभिव्यक्ति करें। ये बड़ी परीक्षा का दौर है। आप उनकी शर्तों पर काम करके विफल हो सकते हैं, क्योंकि पश्चिम का जो रूप है उसने भाषा को एक तरह से संप्रेषण की सरलता से जोड़ दिया है। जो जल्दी समझ में आये, वहीं भाषा है। इसलिए वो एक द्वंद्व जरूर है, पर मुझे लगता है कि इक्कीसवीं सदी का जो साहित्य है, वह पहले से मजबूत हुआ है। अभी मैंने ब्लॉग इत्यादि का पूरी तरह से अध्ययन नहीं किया।

ब्लॉग और फेसबुक इत्यादि का साहित्य उस तरह का साहित्य नहीं है, जो गहन चिंतन के उपरांत सामने आये, वहाँ त्वरित टिप्पणियाँ ही ज्यादा देखने को मिलती हैं। आप क्या कहेंगे?

कह सकते हैं कि भाषिक गरिमा नहीं है। लेकिन, जो बाहर लिखा जा रहा वो इस चुनौती के साथ लिखा जा रहा है।

क्या हम इसे इस रूप में देखें कि जो ज्यादातर कूड़ा कागजों पर आता था, अब वो इन साधनों पर देखा जा सकता है?

बिल्कुल सही कहा आपने!

हमारी चुनौती यह भी है कि इसमें हम कैसे अपने आप को और मजबूत करें? इस माध्यम में भी पश्चिम के मुकाबले हम बहुत पीछे हैं।

लेकिन, अब ये जो दौर है- इक्कीसवीं शताब्दी वाला ये बड़ा निर्णायक दौर है। यह कुछ चीजें बड़ी साफ कर देगा। ये एक गंभीर साहित्यिक सृजन और त्वरित संवेद्य

साहित्य दोनों की श्रेणी बना देगा। लोकप्रिय साहित्य अपनी जगह चलेगा और ये अपनी जगह। ये क्रम शायद पहले भी था। फिल्मों को देखिए। फिल्मों का बहुत दूरगामी असर नहीं था। मोटे तौर पर ये जानना चाहिए कि साहित्य का जीवन से, जीवन का हमारे संसार से और संसार का हमारी सोच से बहुत गहरा संबंध है। वो बौद्धिक उपलब्धियाँ हमारे दर्शन और श्रेष्ठ कर्मों में झलकती हैं। हमारे संगीत के भी कुछ प्रयोग देखें- एक लोकप्रिय संगीत होता है और शास्त्रीय संगीत। इस तरह नृत्य में, कला में- सब में आता है। अंतिम तौर पर निर्णायक तो एक उच्चता का बोधक ही करेगा।

सन् अस्सी (१९८० ई.) के बाद की कविता को हम 'समकालीन कविता' के नाम से जानते हैं। लगभग ३४ सालों का यह कालखंड है। एक तरह से दो पीढ़ियों के खपने का कालखंड। अभी तक यह साहित्य सिर्फ 'समकालीन साहित्य' के नाम से जाना जाता है। जिन लोगों ने नामकरण के प्रयास किये, उन्हें कोई सफलता नहीं मिली। यह प्रयास किस तरह से होना चाहिए और जब ये प्रयास होगा तो अंतिम और पहले दशक के दो बड़े विमर्श; 'दलित विमर्श' और 'स्त्री विमर्श'- साथ ही हाल में जुड़ने वाला आदिवासी विमर्श क्या ये सभी इस दौर की कविता और युग के नामकरण में हस्तक्षेप करेंगे? क्या नाम दिया जायेगा?

ये जो तीस-चालीस साल का सृजन है। जिसे हम समकालीन कह रहे हैं। ये एक तरह से यहीं रह जायेगा और जो इसके बाद आयेगा, वह समकालीन हो जायेगा। यहाँ तक के लिए कोई नाम देना पड़ेगा। आपने ठीक ही सुझाया कि ये विमर्शों का दौर है। विमर्श युग की रचनाएँ हैं। क्योंकि, इन विमर्शों ने अपनी आधारभूत साहित्य की उच्चता का कोई प्रतिमान स्थापित नहीं किया। यदि 'दलित-विमर्श' ही कहें तो दलित लेखन का कोई ऐसा उच्च आदर्श नहीं है, सिवाय एक 'मुर्दहिया' के यही हाल लगभग दूसरी चीजों के बारे में भी है।

आदिवासी विमर्श को लेकर रणेन्द्र, महुआ माँझी और अब अनुज लुगुन का नाम सामने आया है। इन लोगों के बारे में आप क्या कहना चाहेंगे?

ये आगे के कवि-रचनाकार हैं। 'स्त्री-विमर्श' का भी यही हाल है। क्या कहें 'स्त्री-विमर्श' का भी श्रेष्ठ लेखन तय कर पाना बड़ा मुश्किल है? ये विमर्शों का काल है। अगला जो काल होगा, निश्चित रूप से एक दिशा सूचक काल होगा। जो अपने को स्पष्ट करेगा। कुछ लोग छूटकर आयेंगे। ये लोग मीडिया से, सोशल मीडिया से और कई क्षेत्रों से भी आयेंगे-

जी, कई क्षेत्रों से लोग आ रहे हैं। आई.आई.टी. और मेडिकल की प्रतिभाएँ भी साहित्य में अच्छा कर रही हैं।

बहुत लोग आ रहे हैं। अनुवाद के क्षेत्र में भी आ रहे हैं, हिंदी आगे बढ़ रही है।

इस दौर के कवियों के सृजन को आप कैसे देखते हैं? उनमें क्या संभावनाएँ हैं?

देखिए, ऐसा है कि कवि जो है वो 'पूत के पाँव पालने में' जैसे- पवन करण हैं। ये ऐसे कवि हैं तो धीरे-धीरे विकसित होंगे तो आगे बेहतर कवि के रूप में सामने आयेंगे। हमारे नये कवियों की पूरी पौध बढ़िया है, जरा-सा उन पर ध्यान देने की जरूरत है। वे अद्भुत रूप में आगे निकलेंगे। इन नये लिखने वालों की जो स्थिति है, वो एक बहुत ही सार्थक और गंभीर लिखने की ओर मुड़ी हुई है। उस पर आप आरोप नहीं लगा सकते...

जी, जो नये लोग आ रहे हैं, उनमें प्रतिभा की कोई नहीं है। यहाँ बी.एच.यू. में कुछ बी.ए. और एम.ए. के युवा कवि साप्ताहिक गोष्ठी करते हैं। मैं देखता हूँ कि उनकी कविताओं में प्रेम के अल्हड़पन से ज्यादा अपने समय का सच और उससे संघर्ष का साहस दिखाई देता है। हाँ, उन्हें थोड़ा मँजने की जरूरत है, भाषा के स्तर पर।

हाँ, वो अपने आप कर लेंगे।

मुझे भी लगता है कि जैसे-जैसे श्रेष्ठ पढ़ते जायेंगे, वे खुद भी सँवरते जायेंगे। लॉजाइनस ने कहा है कि जो महान आत्मा होती है, वो महान विचारों से युक्त होती है और उसकी अभिव्यक्ति भी अलग रास्ता निकाल लेती है।

बिल्कुल सही!

युवा कवियों को कोई सुझाव देना चाहेंगे ?

एक सुझाव तो यही है कि वे मेरा सुझाव बिल्कुल न माने (हँसकर); क्योंकि, सृजेता को सुझाव दिया ही नहीं जा सकता। वो तो अड़ियल होता है, उसे तो अपना काम करना ही है। नंबर दो यह है कि जो लिखें अपनी जिम्मेदारी समझकर लिखें। ऐसा न हो कि जो आज लिखा है, उससे कल इंकार करना पड़े कि 'मैं तो इसे' -वो न हो! तीसरी चीज जो बहुत जरूरी है, वह है पहले अपनी भाषा को बहुत अच्छी तरह से जानें। भाषा क्या है? हमारी भाषा सिर्फ संप्रेषण और एक-दूसरे तक अपने संदेश पहुँचाने की भाषा ही नहीं है। ये भाषा हमें अपने पूर्वजों से मिली हुई है। वहाँ से हमारे पास आई है। पूर्वजों का सारा विवेक इस भाषा में उपलब्ध है। उस विवेक की पहचान हमें होनी चाहिए। हमें सोचना चाहिए कि उन्होंने हमें दी है तो हम इसका उपयोग कैसे करें? भाषा फिजूलखर्ची के लिए नहीं है, गाली-गलौज के लिए भी नहीं है, बेकार की बातें करने के लिए भी नहीं है- सृजेता के लिए अगर यह भाषा है (वह बहुत बढ़िया लॉजाइनस को कोट किया आपने) तो इस भाषा विवेक के द्वारा अपने पूरे समाज को देखें। भाषा

एक ऐसी चीज है जो पूरी तरह इन्डिविज्यूलिस्टिक से नहीं है। अगर दूसरे न हो तो बोलने का कोई प्रयोजन नहीं। चीख सुनाई देगी। दूसरा अर्थ पहुँच रहा है उस तक और ये दूसरा अदृश्य है। कवि एक व्यक्ति को कविता नहीं संबोधित कर रहा है। पुराने जमाने के कवि, प्रेमिका को कविता सुनाते थे। बहादुर शाह जफर का एक बड़ाप मजेदार शेर है-

उनके कूचे से कल हम ऐसे हुनर से गुजरे।

एक ने देखा नहीं सबकी नजर से गुजरे।।

जिसको दिखाना था, उसी ने नहीं देखा। कवियों का भी यही हाल है। अरे! तुम्हें एक को थोड़े, सबको दिखाना है। मुझे लगता है कि हिंदी कविता का अराजकता का दौर खत्म हो गया। बहुत अराजक आंदोलन, अराजक आवाजें...! अब हिंदी कविता को अपनी भाषिक शक्ति के साथ-साथ संगीत आदि को सामने लाना चाहिए, तभी हम दुनिया की भाषाओं के सामने टिक पायेंगे, वरना दुनिया की भाषाएँ हम से आगे बढ़ जायेंगी। ये नई पीढ़ी मेरा सुझाव सुने भी नहीं, माने भी नहीं! लेकिन, आप ने कहा तो मैंने बता दिया।

संपर्क:

प्रो. गंगा प्रसाद विमल

112 साउथ पार्क, कालकाजी

नई दिल्ली- 110019, मो. 09312505250

लक्ष्मण प्रसाद गुप्ता

शोध छात्र, हिंदी विभाग

काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी

उ.प्र.- 221005, मो. 09455107472

कविता और पाठक के बिश्ते केवल गोस्वामी

शंभु बादल लगभग चार दशक से कविताएँ लिख रहे हैं और इन चार दशकों में उनके कुल तीन कविता संग्रह 'पैदल चलने वाले पूछते हैं', 'मौसम को हांक चलो' तथा 'सपनों से बनते हैं सपने' प्रकाशित हुई हैं। इन तीन कविता संग्रहों और इधर की पत्रिकाओं में प्रकाशित उनकी कविताओं के आधार पर उनके कवि-आलोचक मित्र बलभद्र ने उनकी कुछ चुनी हुई कविताओं का प्रस्तुत संग्रह कविता प्रेमियों के सम्मुख प्रस्तुत किया है। चुनाव करने में बलभद्र ने अपनी पसंद ना पसंद को तरजीह न देते हुए इस बात का पूरा ध्यान रखा है कि संभावित कविताएँ कवि के काव्य व्यक्तित्व का प्रतिनिधित्व करें। यों कवि की प्रत्येक रचना उसकी सोच-समझ, संस्कार, विचार एवं परिवेश का हिस्सा होती है, ऐसे में चुनाव करना आसान नहीं होता फिर भी उन पात्रों के लिए जिन्होंने कवि के पूर्वप्रकाशित कविता संग्रह नहीं पढ़े उनके लिए प्रस्तुत संग्रह कवि के सृजन को जानने समझने में सहायक हो सकता है।

कविता की गुणवत्ता के लिए जिस संयम और धैर्य की आवश्यकता होती है शंभु बादल के रचनात्मक संसार को देखकर इसका भरपूर परिचय मिलता है। ऐसा कवि जिसका अपनी भाषा-शैली, कथ्य पर पूरा भरोसा है और जो शब्दों की महत्ता को जानने के पश्चात उनका सटीक प्रयोग करता है, इस प्रक्रिया को उसके परिवेश जन्य अनुभवों से बहुत सहायता मिली है विशेषतया भाषा से। रचना प्रक्रिया में पुरस्कार या आलोचक उसके चेतन मन से उद्बलित नहीं करते न ही अन्य समानधर्मा रचनाकारों की सूची उसके सामने होती है बल्कि वह रचना को एक सामाजिक दायित्व मानकर सृजन की भूमिका को उर्वर बनाता चलता है। कविता जिस उद्देश्य से लिखी जा रही है जिसके लिए लिखी जा रही है उस तक बिना किसी रुकावट के प्रेषित हो यह कवि की प्रमुख चिंताओं में शामिल है।

हर समीक्षक-आलोचक के गुणवत्ता को लेकर अपने मानदण्ड हैं, इसलिए उनकी सूची में जिन कवियों के नाम दर्ज होते हैं। इस चुनाव का आधार रचना कम रचनाकार की राजनीतिक सोच, सक्रियता ही अधिक रहती है, उसी दृष्टि से रचना का आकलन विश्लेषण किया जाता है। प्रायः देखा गया है कि इस प्रक्रिया से जेनुइन कविता की हानि हुई है, पाठक और कविता के मध्य दूरियाँ बढ़ी हैं। अनेक समसामयिक कवि पृष्ठभूमि में ढकेल दिए गये हैं। स्वयं मुक्तिबोध की कविता की ओर उनके मरणोपरांत ही सुधि आलोचकों का ध्यान गया। अपना पहला कविता संग्रह 'चांद का मुँह टेढ़ा है' वह अपने जीवन काल में नहीं देख पाए (जब प्रकाशित हुआ वह कोमा में थे) ऐसे कई कवियों का हवाला दिया जा सकता है जिन्हें पाठकों का भरपूर स्नेह मिला पर जिन पर बात करने से आलोचकों ने सदा परहेज किया। पुस्तक के फ्लैप मैटर पर दी गई। तेलगू के क्रांतिकारी कवि वरवर राव की टिप्पणी इस दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं- "पुस्तक हाथ में लेते ही नजर एक शीर्षक पर गई 'बीज हँस रहे हैं' सात साल के अंतराल के पश्चात

पिछले सात सालों में लिखी गई मेरी कविताओं के संग्रह का शीर्षक बीज भूमि है। हंसते बीज जिस फसल का वादा करते हैं इस कवि ने उस फसल का उपयोग करने वाले जिम्मेदार कवि के रूप में इस देश के भविष्य को अंकुरित कर फूलकर झर वाले शहीदों को समर्पित किया है— कुछ कवियों की तरह शंभु बादल बीते दिनों के क्रांतियों का गान करने वाले कवि नहीं है, समकालीन राजनीति में ये संघर्षशील शक्तियों का पक्ष लेना पसंद करते हैं।’

वरवर राव की तरह शंभु बादल भी अपनी कविताओं का कथ्य अखबारों या किताबों से नहीं लेते अपितु अभावग्रस्त, शोषित, पीड़ित जनसमुदाय के मध्य जा कर उनसे संवाद स्थापित करने के पश्चात रचना सूत्र तलाशते हैं। जहाँ जहाँ शंभु बादल की कविता पहुँची है समझी सराही गई है। परिवेशजन्य अनुभव, भाषा, सांस्कृतिक अनुष्ठानों का सबल आधार उनकी रचना को एक अलग और निजी पहचान देता है। जिन पात्रों को लेकर कई कविताओं की रचना की गई है वे पात्र उसके जाने-पहचाने हैं। उसके अनुभव खण्ड का हिस्सा है इसलिए जहाँ कविता की विश्वसनीयता बनी रहती है वहीं उन पात्रों तक भी संप्रेषित होती है

क्योंकि उसकी कविता का सच जीवन के सच से भिन्न है जैसे— झुलसते पेड़ों ने/ तान दिये सीने/ फैला दिए हाथ/ किन्तु चिंगारी रुकती नहीं/ छिटक छिटक पड़ती है/ माथे पर/ फटे कपड़ों की गोद में/ पीठ कर रखे/ मुरझाए छउवे पर/ कुमलाए कमल पर।” (पृ. १००)

आज के कठिन समय में जहाँ फासीवाद जीवन के हर क्षेत्र में घुसपैठ कर रहा है और विरोधी शक्तियाँ लगभग अपने अस्तित्व की लड़ाई लड़ रही हैं ऐसे में जनसाधारण के बीच ये कविताएँ आलोक स्तंभ का कार्य करेगी— बल्कि सही मायनों में राजनीतिक दल के आगे मशाल लेकर चलने की भूमिका निभायेगी। शंभु बादल जैसे कवियों को समानधर्मा कवियों को नए सिरसे से लाभबंद करने की भूमिका भी निभानी होगी। यह निरंतर संघर्ष राजनीतिक हुए बिना सिरे चढ़ने वाला नहीं, इस दृष्टि से इन कविताओं का महत्त्व और भी बढ़ जाता है।

शंभु बादल की चुनी हुई कविताएँ

प्रकाशक : विकल्प प्रकाशन, दिल्ली

संस्करण : प्रथम, २०१६

मूल्य : १८० रुपये मात्र

संपर्क :

जे. 363 सरिता बिहार मथुरा रोड,
नई दिल्ली- 110076, मो. 9871638634

अंतर्ग ऊर्जा से उष्मित कविताएँ

अरूण अभिषेक

नई पीढ़ी के उन चुनींदा कवियों में से हैं मंजुला उपाध्याय मंजुल, जो हमारे आसपास बिखरे तमाम संदर्भों में से सबसे सहज तत्त्वों व तथ्यों को तिनकों की तरह उठाती हैं और किसी भाव-बोध से लबरेज जादूगर की तरह इशारों में, हमारे मनोभावों को स्पर्श करती हैं, और तत्क्षण हमारी सोयी संवेदनाओं को जीवंत भी कर देती हैं। अपने पहले संग्रह 'हथेली भर धूप' में मंजुला अपनी कविताओं के माध्यम से संभावनाशील कवयित्री के रूप में ज्यादा उभरती हैं, जो उनके ग्रामीण और कस्बाई बोध से ज्यादा समृद्ध होता है। जहाँ मानवीय संवेदनाओं का दरकता कोना भी इनसे अछूता नहीं रहता है। संग्रह की कुछ खास वजह यह भी है कि रिश्तों के प्रति निर्वाह एवं प्रेम को घनीभूत आयामों में ज्यादा परखती हैं। जहाँ अमूर्त प्रेम का अपना कोना भी होता है। एक उम्मीद जगती है कि इस कवयित्री को अभी और आगे जाना है।

संग्रह में कुल अठहत्तर कविताएँ हैं, जिनमें दो लंबी कविताएँ अपने खास संवेदनाओं एवं पाठकीय बोध के साथ संकलित हैं। जहाँ तक लंबी कविताओं का सवाल है, वह रूढ़ि या रीति पर नहीं लिखी गई हैं, बल्कि दीर्घता के मूल में कवयित्री की ग्रामीण संचेतना से जुड़ी यथार्थ बोध को ज्यादा से ज्यादा परिवेशगत दृश्य बोध एवं उनके स्तरों को समग्रता में रूपायित करने की अंतः प्रेरणा रही है। इन आशयों में लंबी कविता 'तुम्हारी पग ध्वनि से तरंगित हुई मेरी चेतना' की स्मृतियाँ और दृश्य अभिभूत करती है। द्रष्टव्य है- 'क्योंकि/ देख रही हूँ भोर से/ रतजगा करती/ घर के भीतर एक उल्लसित हलचल/ सूँघ रही हैं/ आत्मा मेरी वो खुशनुमा सुगबुगाहटें।' प्रस्तुत कविता बचपन के दिनों की ग्रामीण चेतनाओं से जुड़ी, वह सारी सुखद स्मृतियाँ हैं, जो कवयित्री पूरी आत्मवेग से पकड़ लेती है, मानो वह परिवेश उन्हें आमंत्रित कर, उस अतीत के सुखद-आत्मबोध के संसार से, उनके पुरागमन को खुशियों और स्मृतियों से जोड़ रही है। वह ग्राम्य भूमि, वह नदी, तालाब, खेत, खेत में जमे पानी, वृक्ष, खलिहान....सब के सब एक साथ उल्लसित हो, उनके समस्त सांस्कृतिक सौंदर्य से नया परिचय करवा रही हो। तभी तो कविता का यह स्वर आमंत्रण भरा अपनी दीप्ति लिये हुए, यह कहती है कि- 'कब पड़ेंगे तुम्हारे पांव/ इस दहलीज पर/ और 'कब हसूँगी मैं भी, खुलकर/ इस सूने घर-आँगन के साथ।' विस्मृति की आशंका से, स्मृति की ओर ले जाती ममत्वपूर्ण वह रिश्ते और पल याद कराती हैं, इन शब्दों में- 'कैसे मेरी गोद में लोटते/ लथपथ हो जाया करते थे तुम/ कैसे चोरी-छिपे, मुट्ठी में भर के/ भर लिया करते थे मुझे/ अपने मुख में/ तब कितनी मार पड़ती थी तुझे।' इतना ही नहीं, वह धरती माँ को दुलारती हुई अमूर्तन हो व्यक्त करती हैं कि 'फिर तुम्हें साथ लेकर/ पूरा गाँव घुमा लाऊँगी/ खेत-पथार, बाग-बगइचा पोखर-तालाब/ नहर और खलिहान/ सब के सब देखना तुम/ मेरी आँखों से।' अंततः कवयित्री का यह आत्म संवाद अपनी ग्राम्य-भू से विकसित हो, गाँव के तमाम सौंदर्य और उसके सौंदर्य से आत्मसाक्षात्कार का यह अभिभूत दुनिया प्रकाशित होती है। दूसरी ओर कस्बाई शहर के अविकसित परिवेश में भी कवयित्री सौंदर्य ढूँढ़ने से नहीं चूकती हैं। यह दृश्य इनकी दूसरी लंबी कविता 'दुनिया इन रंगों में भी' परिलक्षित होकर, पाठकों को बांध लेती है, इन मनःस्थितियों में 'अपनी ओर बढ़ती मशीन की/ कर्कश ध्वनि से/ सहम जाते हैं/ छोटे-बड़े, फूल-पौधे, घास-पात।' यह कविता पर्यावरण के विरुद्ध संकट की उद्घोषणा है। छोटी कविता 'खलिहान' भी ग्रामीण-सौंदर्य को पूरी तन्मयता एवं पारदर्शिता के साथ व्यक्त करती है।

कवयित्री प्रेम के घनीभूत संसार को अपनी अंतस् ऊर्जा से महसूसती है, जहाँ लगता है कि प्रेम की एक अमूर्त छवि मानस में उग आई हो। और यथार्थ से टकराती प्रेम के प्रति उष्मित भावनाओं का संसार रचती है। यकीनन यह मानवीय संवेदनाओं एवं संस्कृति का प्रथम उद्गम है। यह प्रेम का घनीभूत स्पर्श ही है कि कविता 'एक स्पर्श...!' का यह स्वर गूँजता है- 'क्यों महकने लगी हवा/ संदल-सी/ लगता है तुम/ आस-पास हो।' कविता

‘सान्निध्य तुम्हारा’ का यह दृश्य भी आकर्षित करता है—
‘...क्षितिज का/ आभास भला क्यों न हो/ आखिर मिले तो
थे/ पहली बार/ हम तुम वहीं।’ कवयित्री प्रेम को बिना
शर्त पर जीने की अभिलाषा भी रचती है— ‘इन क्षणों में/
मन चाहता है/ आकर बैठो मेरे पास/ कुछ मत कहो/ कुछ
मत सुनो/ बस देख लो/ हौले से खोलकर/ मेरी हथेलियाँ/
जिस पर/ मेहंदी से लिखा है मैंने/ तुम्हारा नाम।’ (कविता,
तुम्हारा नाम)। इस कड़ी में कविता ‘हथेली का सच’,
‘तुम्हारी आँखों में’, ‘नदी होती स्त्री’, ‘इश्क की उम्रदराजी
के लिए’, ‘प्रार्थना’, ‘जहाँ मैं हूँ’ का स्वर प्रेम-उष्मा में
पगी दुनिया को व्यक्त करती है। इन कविताओं को पढ़ते
हुए यह प्रतीत होता है कि दो हृदयों के बीच का एक
अंतरंग संलाप है। जहाँ अन्तर्मन का कोना-कोना दिव्य-
अनुभूति की शीतलता से तृप्त हो जाता है।

प्रस्तुत संकलन में कुछ खास कविताओं का यह आशय
है, मानो समय की हर आती-जाती सांसों के नाम एक
शिकायत दर्ज है। अमूमन कवयित्री अपने कुम्हलाये हुए
समय को दुबारा से हरा होते हुए देखना चाहती है। यही
वजह है कि घनीभूत कुहासे में, इनके पास उम्मीद की आँखें
हैं। उम्मीद की इस रोशनी पर में वह कई समकक्ष विकल्प
भी तलाश लेती हैं। इन मूल्यों के पक्ष में इनकी महत्त्वपूर्ण
कविताएँ गौरतलब हैं। जैसे ‘उसके हिस्से की खुशियाँ’,
‘क्षणों में’, ‘एहसास’, ‘निर्मल हँसी’, ‘तेरा क्या जाता है’,
‘तन्हाइयों में’, ‘अंतहीन कहकहे’, ‘टूटा तिनका’, ‘बूंदें
जिंदगी की’। यकीनन कवयित्री अंतर्विरोधों के बीहड़ में
खुद को खोजते किरदारों के साथ, जीने का सबब रचती
हैं, इन अर्थों में कि ‘महसूस/स्नेह की गरिमा/ रिश्तों की
अहमियत/ पपीहे की जरूरत/ अम्मा की लोरी/ अनुभूतियों
के बोल/ लबों की थरथराहट।’ (कविता— ‘बूंदें जिंदगी
की’)/ कविता ‘उन्मुक्त’ और ‘उम्मीद’ भी इन्हीं
अभिव्यक्तियों के रची-बसी हुई है।

यह आदिम सोच है कि स्त्री महज शरीर है। शरीर के
सिवा उसकी किसी और पहचान से पुरुष इंकार करता है।
कवयित्री पुरुष की इस दृष्टि का विरोध ही नहीं स्त्री को
संपूर्णता में देखे जाने की अपेक्षा करती है। यह संभव है
एक स्त्री का अनुभव एक स्त्री ही अपनी अनुभवजन्य
प्रामाणिकता से अभिव्यक्त कर सकती है। मसलन स्त्री

अस्तित्व से जुड़े, स्त्री क्या सोचती है, क्या महसूसती है,
क्या सपने देखती है। कवयित्री का यह स्वभाव इस संग्रह
की महत्त्वपूर्ण कविताएँ— ‘नसरीन’, ‘नसरीन सिर्फ एक
सच’, ‘प्रतिकार’, ‘आदमी’, ‘नारी मन’, ‘अमृत सी तुम’,
में परिलक्षित होता है। किस तरह नसरीन के संघर्ष और
पीड़ा में वह खुद प्रतिध्वनित होती है, इन अर्थों में महसूस
जा सकता है— ‘जैसे-जैसे उतरती गई मैं तुममें/ तुम्हारे
हफ्तों में छुपे हुए दर्द/ उतरते गये मेरी आत्मा में।’ इतना ही
नहीं, कवयित्री हुंकार भरती है, उन पुरुष सामंती विचारों
के विरुद्ध— ‘तब/ राधा, रजिया, रूपकौर... उठायेंगी कलम/
तब गूँजेंगी/ पूरे वायुमंडल में/ तुम्हारे अनमोल शब्द।’

ईश्वर प्रदत्त स्त्री का प्राकृतिक स्वरूप, उसके माँ होने
से उदित होता है। स्त्री अस्तित्व का यह महत्त्वपूर्ण चरित्र
और उसके पीछे छुपी पीड़ा को भी बखूबी व्यक्त करती हैं—
‘मेरी मृदुल सुखद पलों की/ विपुल जिंदगी/ मुझमें जन्मी/
मेरी रानू/ तेरे बगैर मैं कहाँ?’ (कविता, मेरी लाड़ो)।
इसी तरह की कुछ खास संवेदनाएँ ‘जब माँ बनती हैं
औरतें’, ‘अम्मा के दिल तक’, ‘तुम्हारे साथ मैं भी तो
जन्मी थी’, ‘अपने अंतस् से’— जैसी कविताओं में स्त्री-
मन के गहरे अर्थ संदर्भ को व्यक्त करती हैं। पाठक यह
भी महसूस करते हैं कि कवयित्री के भीतर, इस तरह के
मर्म-तत्त्वों को देखने का एक नैसर्गिक हुनर भी है।

अन्नतोगत्वा प्रस्तुत संग्रह की कविताएँ अपनी भाषा,
शैली एवं कथ्य के माध्यम से पाठकों को एक हृद तक
संप्रेषित करती हैं। काफी सहजता से कवयित्री प्रेम, किसान,
पर्यावरण, समय, रिश्तों एवं स्त्री अस्तित्व से जुड़े काव्यात्मक
आशय को इस तरह से बुनी हैं कि वे तमाम कारक नए
अर्थ देने लगते हैं। वरिष्ठ रचनाकार प्रियदर्शन का यह
कहना (ब्लर्व पर) युक्तिसंगत प्रतीत होता है कि ‘...कविता
सबसे पहले सहजता और सरलता में होती है— इससे पैदा
होने वाली तरलता में होती है।’ बेशक, संग्रह की कविताएँ
पाठकों पर गहरा प्रीतिकर प्रभाव छोड़ेंगी।

पुस्तक : हथेली भर धूप (काव्य-संग्रह)

लेखिका : मंजुला उपाध्याय ‘मंजुल’

प्रकाशक : उद्भावना, गाजियाबाद

मूल्य: ₹ ५०/- रुपये मात्र।

आंचलिकता की ओंठी महक

डॉ. सुभद्रा राठौर

‘आत्मकथा’ एक रोचक विधा है। पाठक किसी रचना के प्रति संशय पाल सकता है, वह अच्छी होगी या नहीं? पढ़ा जाए अथवा नहीं? किंतु आत्मकथा चुंबक है, सहज ही आकृष्ट करने की क्षमता से भरपूर! यहाँ पाठकीय मंशा महज दूसरों की खिड़की के पार झाँकने की नहीं होती, अपनी अस्मिता की तलाश भी होती है। लेखक डॉ. रामनिवास ने कहा है “हर व्यक्ति का जीवन एक कहानी है....।” जीवन सपाट, मैदानी भाग में प्रवाहित होती शांत धारा कहाँ? वहाँ उद्गम के उछाल से लेकर, शिलाओं से होने वाली कठोर मुठभेड़, उत्थान-पतन और शांत-अशांत प्रवाहों के मध्य महामिलन भी है। अनिश्चितताओं और विविधताओं से अटे पड़े प्रत्येक जीवन में अपना ही सौंदर्य है, संदेश है।

मुँह में सोने का चम्मच लेकर पैदा होना हर व्यक्ति का सौभाग्य नहीं होता, उसमें प्रेरणा के तत्त्व भी नहीं होते। ऐसे में कितना अच्छा हो कि एक संघर्षशील व्यक्तित्व सामने हो, अभावों ने ही उसे अमृतपान कराया हो और बड़ी बात यह कि बिना किसी हिचक-झिझक, बेलाग वह अपने जीवन के स्याह हिस्से दुनिया के सामने बेपर्दा करता हो। आत्मकथा का लेखन जितना सरल है उतना ही कठिन भी, चुनौतियों से भरा। आपकी स्मृति कितनी तेज है। नीयत कितनी सही है? साझा करने की हिम्मत कहाँ तक है? महात्मा गाँधी जैसा साहस कर सकेंगे? या अच्छा-अच्छा गप, कड़वा-कड़वा थू? डॉ. रामनिवास उस कसौटी में कहाँ तक खरे उतरे? उसकी जानकारी या तो उन्हें स्वयं होती अथवा उन पाठकों को, जो कथा की भूमि से संबद्ध हैं। बहरहाल उन्हें बधाई कि उन्होंने जोखित भरा कदम उठाया है और संदेह नहीं उनके लेखन से रसिक पाठकों को कुछ मोती तो अवश्य मिलेंगे, प्रकाश की नन्हीं-नन्हीं कनिकाएँ भी। जीवन-मार्ग के कुहासों पर एक हल्की-सी दस्तक सही!

‘मुझे कुछ कहना है’ लेखक के अंतर्मन में बसे बाल्य-दृश्यों का संकुल है। लेखकीय स्मृति-क्षमता की दाद देनी पड़ेगी अथवा वे परिस्थितियाँ ही इतनी कसैली थीं, जिसकी कसक हृदय से जाती नहीं। शायद उनकी ही विरेचन स्थल यह कृति बन गई हो! संघर्षों से भरा, अभाव से जूझता बचपन, जहाँ अनुपस्थिति ममतामयी माता की भी रही,

लेखक को निरंतर टीसता है। मानव-मन सदैव तुलनापरक होता है। दुख के दिन हों तो सुखद अतीत और सुख के दिन हों तो दुखद अतीत की स्मृतियाँ तुलाओं पर चढ़ती ही रहती हैं। यह मन की अपनी फितरत है, वह गाहे-बगाहे लौट-लौटकर पीछे नजर फेर ही लिया करता है। लेखक व्यतीत बाल्यावस्था की तुलना में काफी अच्छी दशा में है, फिर भी बीते दिनों का वह मुक्तांगन उसे बार-बार आमंत्रण भेजता है। आमंत्रण ठुकराने का प्रश्न कहाँ? उस भूमि में मानसिक विचरण का फल जख्मों के फिर से हरे हो जाने में मिलता है किंतु 'मीठे दर्द' की अनुभूति से बचाव का आग्रह कहाँ? वह तो दवा है, कड़वी दवा, जिसकी एक-एक घूंट रचनाकार को 'स्वस्थ' बनाती है, विचलित नहीं होने देती। प्रेरित करती है, लगातार बीहड़ों के पार निकलने को पलायन नहीं, संघर्ष! सबका अपना-अपना कर्मक्षेत्र है, अपनी-अपनी रणभूमि। आप ही कृष्ण, आप की अर्जुन।

क्या है इस आत्मकथात्मक प्रस्तुति में? क्यों पढ़ा जाए इसे? ध्यान रहे कि यह किसी महापुरुष की आत्मागाथा नहीं, वे तो 'यूनीक' हो जाया करते हैं। इसलिए ही सर्वाग्राही होने में भी असहज। 'मुझे कुछ कहना है' आमजन का भूगोल है, यह किसी का भी हो सकता है। हमारे इर्द-गिर्द, इधर-उधर, कहीं भी! कृषक और गो संस्कृति के भीतर भारत देश का गरीब बचपन, ठीक-ठाक तुलसी की भांति, जिसने कभी चार चने को जीवन के चार लक्ष्यों जैसा दुर्लभ मान लिया था। लेखक ने अपनी आत्मकथा को पाँच खण्डों में लाने की योजना बनाई है। प्रस्तुत प्रथम खंड बाल्यकालीन स्मृतियों का लेखा-जोखा है। इन दिनों ग्राम्य संस्कृति लुप्तप्राय है। ग्राम से शहर की ओर होता पलायन पुरानी बात हो चुकी, अब तो शहर ही गाँवों में घुस गए हैं। ऐसे में यादों में बसे ग्रामों को पढ़ना-देखना-महसूसना रुचिकर लगता है। यहाँ आपको ढेरों चीजें एक साथ मिलेंगी; ग्राम का समग्र, एक ही जगह। कृति में लेखक अपनी बाल्यावस्था को संजोता है, वह मूलकथ्य तो है ही, किंतु साथ ही तत्कालीन ग्राम और सामाजिक तानों-बानों के साथ संपूर्ण परिवेश के वर्णन-विश्लेषण भी उनके पाथेय हैं। ग्राम्य जीवन, रहन-सहन, खान-पान, बोली-भाषा, मेले, लोकपर्व, लोकपरंपराएँ, विश्वास-अंधविश्वास,

बलिप्रथा, आंचलिक विवाह, बेमेल विवाह, लोकगीत, ग्रामों की बसाहट का भौगोलिक-ऐतिहासिक-सामाजिक वर्णन, ग्राम्य नामों की व्याख्या, संबोधन, ग्रामीणों के ईर्ष्या-द्वेष, उठा-पटक, भाव-अभाव, अशिक्षा, शोषण-दलन, राम व श्रीकृष्ण लीलाएँ, बालसुलभ जिज्ञासाएँ व क्रीड़ाएँ, जेवर के प्रति स्त्री का प्रेम, स्त्रियों का अनथक परिश्रमी गार्हस्थ जीवन, आत्महत्या और पलायन जैसे तमाम दृश्य यत्र-तत्र सर्वत्र कृति में उभरते हैं। स्मृतियाँ अवश्य बाल्यकाल की हैं किंतु उन्हें देखने का नजरिया परिपक्व है, बाल्यावस्था में लेखक को यदि अभाव झेलने पड़े, दर-दर भटकना पड़े, कारण कहीं और नहीं। इसी समाज में उसके बीज हैं, जिसे आज हम 'सिस्टम' कहकर कोसते हैं। पूँजीपति और पूँजीहीन वर्ग की खाई, संघर्ष, शोषण और विद्रूपताएँ मानों स्थायी तत्त्व हैं।

रचना में कहीं-कहीं काल्पनिकता अथवा अतिरंजकता का भास मिलता है। जो रोचकता का आग्रह हो सकता है। इससे मूलकथ्य में कोई खास फर्क नहीं पड़ता। कुछ अंश विशेषतः आकर्षित करते हैं। ग्रामों की बसाहट का व्यौरा देते वक्त जब लेखक उन्हें 'च' या 'T' आकार में वर्णित करता है, एकबारगी गाँव चाक्षुष हो उठते हैं। लेखक का सामाजिक-भौगोलिक और ऐतिहासिक ज्ञान प्रभावित करता है! माता की आकस्मिक मृत्यु और उससे बिलुडने के दृश्य बेहद मार्मिक बन पड़े हैं। नन्हीं उमर में माँ से विलग होते बालक के हृदय में कैसा शून्य उभरता है, उसका चित्रण सटीकता से किया गया है। एक बात और, 'गँवार' शब्द की उत्पत्ति 'गाँव' से हुई। इसका मूल अर्थ है गाँव का वासी, जैसे नगर का वासी नागरिक वैसी ही गाँव का वासी गँवार। चूँकि ग्रामीण भोला-भाला, अनपढ़, सीधा-सादा होता था, कालांतर में 'गँवार' शब्द 'मूर्खता' का पर्याय हो गया। गँवार अर्थात् मूर्ख, भोला-भाला, अशिक्षित, अज्ञानी। किंतु मजे की बात यह है कि इस अर्थ में ग्रामीण 'गँवार' तो बिलकुल ही नहीं होता, उसके अपने चिंतन हैं, ज्ञान है, स्वार्थ हैं, उसके लिए बरती जाने वाली सजगताएँ हैं, छलकपट, ईर्ष्या-द्वेष, उठा-पटक, मार-धाड़ सब कुछ है। हम उन्हें 'निपट गँवार न समझें। भाई का भाई के प्रति, पिता का पुत्र के प्रति, पुत्र का पिता के प्रति और इसी तरह

तमाम रिश्ते-नातों में बरता जाने वाला 'प्राैक्टिकल' रूप इस कृति में आप स्वयं देखिए।

फणीश्वरनाथ 'रेणु' से प्रारंभ हुई आंचलिकता आज पुनः क्षीण हो गई है। समस्या चूंकि यह कि अंचल भी तो वैश्विक संस्कृति की चपेट में हैं, फिर भी जितना कुछ शेष है, उस पर तो दुलार भरी नजर फेर ही लेनी चाहिए। 'मुझे कुछ कहना है' को पढ़ने का सुख इसलिए भी है कि इसमें अंचल झाँकता है, संस्कृति का ग्राम्य रूप मिट्टी की महक दे जाता है। कार्य क्षेत्र छत्तीसगढ़ अतः लेखक ने आत्मकथा के लिए हिंदी के साथ छत्तीसगढ़ी को माध्यम रूप में चुना है। संवाद शैली में अभिव्यक्ति छत्तीसगढ़ी सहजता का पुट भरता है। इसके अलावा समस्त लेखन में छत्तीसगढ़ी के शब्दों का लेखक ने अकृत्रिम उपयोग किया है। अंगाकार, बरा, सोहारी, बरा, सोहरी, गोरसी, परछी, मलिया, घुरवा, ढेंकी, जाँता, पचहत्थी, बंडी, झाँपी, ठाकुरदिया, चूलमाटी, हरदियाही, डिंडवा, सरोत्तर, दउवा, नोनी, धंरसा जैसे सैंकड़ो शब्द हैं, जिनका आंचलिक अर्थ है और सांस्कृतिक महत्त्व भी। पाठक छत्तीसगढ़ी अथवा छत्तीसगढ़ी शब्दों के व्यवहार

से अर्थबोध के चक्रव्यूह में नहीं फसेंगे क्योंकि कृति के अंत में लेखक ने भाषावैज्ञानिक तरीके से उनके अर्थ भी दे दिए हैं। वैसे भाषा सहज-सरल है। कहीं-कहीं लोकोक्तियों, दोहों, संस्कृत श्लोकों के माध्यम से अपनी विचारधारा में वजन डालने के प्रयास हुए हैं, वे औचित्य पूर्ण हैं।

साहित्य-संसार में आत्मकथाओं की संख्या ज्यादा नहीं है, रणबांकुरों का अभाव सा है। ऐसे में डॉ. रामनिवास का हस्तक्षेप श्लाघनीय-है, उनका स्वागत है। आशा है उनकी यह बाल्यकालीन छवि पाठकों का ध्यान खींचेगी, जहाँ वे घुटरूप चले हैं, गिरे हैं, पड़े हैं, उठे हैं और संभले भी हैं। थाम लीजिए उनके हाथ ताकि उनकी किस्सागोई रुके नहीं; वे बढ़े चलें, आगे और आगे.....।

पुस्तक : मुझे कुछ कहना है

लेखक : रामनिवास साहू

समीक्षक : डॉ. सुभद्रा राठौर

प्रकाशक : अनन्य प्रकाशन, दिल्ली

संस्करण : प्रथम, २०१७

मूल्य : ३९५ रुपये मात्र

संपर्क:

बी-81, वी.आई.पी. इस्टेट, खंभारडीह, पो.ऑ.सड्डू
रायपुर (छ.ग.), पिन: 492091, मो. 9425525248

'मुक्तांचल' प्राप्त स्थान

आनंद प्रकाशन : 176/178, रवीन्द्र सरणी, कोलकाता- 700007

पूजा बुक हाउस : 454, रवीन्द्र सरणी, नियर बी.के. पॉल, कोलकाता- 700005

मोहन बुक एजेंसी : 2, डेकर्स लेन, कोलकाता-700069

पुस्तकालय : सेठ सूरजमल जालान पुस्तकालय (राम मंदिर), कोलकाता

राजकमल प्रकाशन : शेक्सपियर सरणी, कोलकाता-१७

हेम बुक सेंटर : जे.एन.यू. दिल्ली

मौर्या बुक स्टाल : लंका, वाराणसी

परिदृश्य प्रकाशन: 1, अनमोल बिल्डिंग, शोहराबजी, सांतुक लेन,

धोबी तालाब, मरीन लाइन, ईस्ट मुंबई- 400002

प्रभात बुक सेंटर : सी/207, शीतल स्टार, शीतल नगर, एम.टी.एन.एल के पीछे,

मीरा रोड (ईस्ट), मुंबई- 401107

ज्ञानदीप : नियर फिरारालाल, एच.बी. रोड, राँची-834001

लालमणि साव बुक स्टॉल: आर. एन. साव चौक, पूर्णिया-854301

गोविंद न्यूज पेपर मार्केट : कैंट साइट, रेल बाजार, कानपुर-208004

श्याम सुंदर गुप्ता न्यूज पेपर मार्केट : कैंट साइट, (नियर रेलवे स्टेशन) कानपुर-208004

‘नीलांखर’ कोलकाता द्वारा ‘कंधे पर कविता’ का लोकार्पण

११ फरवरी २०१७ को शरत सदन में आयोजित एक भव्य कार्यक्रम में युवा कवि कथाकार विमलेश त्रिपाठी की वाणी प्रकाशन, दिल्ली से प्रकाशित नई कविता पुस्तक ‘कंधे पर कविता’ का विमोचन वरिष्ठ कवि केदारनाथ सिंह ने किया। उक्त अवसर पर बतौर विशिष्ट अतिथि खंडवा से प्रताप राव कदम, वाराणसी से डॉ. शिवानी गुप्ता, भुवनेश्वर से डॉ. राकेश कुमार सहित कोलकाता से डॉ. शंभुनाथ, डॉ. अभिज्ञात, शैलेन्द्र शांत, डॉ. मीरा सिन्हा, डॉ. आशुतोष, पीयूष कांत राय, निशांत एवं अन्य साहित्यकार उपस्थित थे।

केदारनाथ सिंह ने विमलेश त्रिपाठी के इस संग्रह पर बोलते हुए कहा कि ‘विमलेश एक ऐसे कवि हैं जिन्हें मैं बहुत पसंद करता हूँ। इस संग्रह में कवि कुछ कदम और आगे बढ़ते हुए खुद को सिद्ध करता है। विमलेश ने अपने कंधे पर कविता को उठाकर यहाँ तक पहुँचाया है, हम उम्मीद करेंगे कि वे इसे बहुत आगे तक ले जाएंगे।’ खंडवा से विशेष तौर पर विमोचन के कार्यक्रम में शिरकत करने के लिए पधारे चर्चित कवि प्रताप राव कदम ने कहा कि ‘विमलेश ने अपनी सशक्त लेखनी की बदौलत बिना अपनी पहली पीढ़ी को कुछ कहे-बताये कविता और कथा के फलक पर एक महत्वपूर्ण स्थान बनाया है। उनका संग्रह ‘कंधे पर कविता’ उनके कवित्व और सरोकार का प्रमाण प्रस्तुत करता है।’

वाराणसी से आयी युवा आलोचक डॉ. शिवानी गुप्ता ने विमलेश के संग्रह को इस मायने में महत्वपूर्ण बताया कि ‘उसमें लोक की अनुगूँज के साथ ही संबंधों की पीड़ा और रचनाकार का दुख भी अभिव्यक्त हुआ है। तमाम दुख और निराशा के बीच विमलेश उम्मीद और प्रेम को बचाए रखने वाले कवि हैं।’

भुवनेश्वर से आये युवा डॉ. राकेश कुमार सिंह ने विमलेश की कविता को सार्वदेशिक अनुभव संपन्न बताते हुए कहा कि ‘उनकी कविताओं की स्थानीयता एक वैश्विक जिम्मेवारी लिए हुए है। उनके कंधे पर कविता का एक बड़ा दायित्व है।’

युवा आलोचक और शोधार्थी पीयूष कांत राय ने विमलेश की कविताओं को पर्यावरण की चिंता से जोड़ते हुए कहा कि विलेश लोकल से ग्लोबल की ओर यात्रा करते हुए दिखाई पड़ते हैं। वे एक ऐसे कवि हैं जिनकी ओर हम आशा की निगाह से ताक रहे हैं, और यह बहुत बड़ी बात है। –प्रस्तुति : मनोज झा

साहित्य उत्सव लिटिल मैगजिन मेला में काव्य पाठ और पत्रिका प्रकाशन

साहित्य उत्सव लिटिल मैगजिन मेला ११-१५ जनवरी २०१७, रवीन्द्र सदन प्रांगण, कोलकाता में मरुतृण साहित्य-पत्रिका के १८८ नं. स्टाल के पास साहित्य त्रिवेणी, सदीनामा व बंगला पत्रिका प्रब्रज्या के संयुक्त तत्त्वाधान में हिंदी व बंगला कविताओं का सम्मिलित पाठ हुआ। अध्यक्षता साहित्य त्रिवेणी के संपादक कुंवर वीर सिंह मार्टंड ने तथा संचालन मरुतृण के संपादक सत्य प्रकाश ‘भारतीय’ ने किया। मरुतृण

के नये अंक जनवरी-मार्च २०१७ का लोकार्पण भी किया गया। पत्रिका और मेले की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए मरुतृण के परामर्श संपादक राजेन्द्र साह ने धन्यवाद ज्ञापन किया। शहर के वरिष्ठ कवि रावेल पुष्प की रचना 'कविता नहीं है' के अनूठेपन ने श्रोताओं को मुग्ध कर दिया। हिंदी के कवियों में 'विनिर्माण' पत्रिका के संपादक पार्थ सारथी 'मौसम', सदीनामा के संपादक जितेन्द्र जितांशु, रणजीत भारती, मरुतृण के सृजन संपादक अमरदीप कुलश्रेष्ठ, अनिल उपाध्याय, अमित कुमार अम्बष्ट 'आमली', विकास अत्रि, मीनाक्षी सांगनेरिया, नवीन कुमार सिंह, सत्य प्रकाश 'भारतीय' तथा बंगला के कवियों में प्रब्रज्या के संपादक चंचल चट्टोपाध्याय, अमित चक्रवर्ती, अचिन मधुकर, रमा सरकार, ऋत्विक् ठाकुर व अध्यक्ष कुंवर वीर सिंह मार्टंड आदि ने अपनी कविताओं से समां बाँध दिया।

प्रस्तुति : सत्य प्रकाश 'भारतीय'

मधेपुरा जन लेखक संघ: राष्ट्रीय परिषंखाद

२५ दिसम्बर २०१६ को भारतीय जन लेखक संघ के बैनर तले टी.पी. कॉलेजिएट हाईस्कूल, मधेपुरा (बिहार) में राष्ट्रीय परिसंवाद सह कवि सम्मेलन सम्पन्न हुआ।

समारोह का उद्घाटन हिंदू कॉलेज दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली के प्रोफेसर डॉ. रतनलाल ने किया।

उन्होंने मनुस्मृति के दहन की बात लोगों से की। डॉ. लाल ने कहा मन में मनुवादी विचारों का दहन होना जरूरी है। दलित, अल्पसंख्यक, बुद्धिजीवी लेखकों में विरोध का तेवर होना चाहिए। उन्होंने कहा कि हमारा देश संविधान से नहीं परंपरा से चल रहा है। उन्होंने कहा कि इतिहास नजर अंदाज करने का खेल खेल रहा है। पिछड़ों के उत्थान के लिए हमें अपने नायकों की खोज करनी चाहिए। समारोह में भोपाल (मध्य प्रदेश) की डॉ. प्रतिमा यादव ने कहा कि धीरे-धीरे क्रांति यात्रा शव यात्रा में बदल जाती है। उन्होंने कहा कि मानव की श्रेणी में आने की कोशिश होनी चाहिए। हमें मेहनत से अपने मुकाम हासिल करने होंगे।

डॉ. यादव ने कहा कि हमें परंपराओं का विरोध करना होगा। उन्होंने पिछड़ों को एकजुट होने की बात कही।

भारतीय जन लेखक संघ (भाजलेस) के राष्ट्रीय महासचिव महेन्द्र नारायण पंकज ने संगठन के उद्देश्यों की जानकारी देते हुए, मूल निवासियों के शोषण को बंद करने की सलाह दी। उन्होंने साहित्य सत्ता पर बहुजनों का आधिपत्य होने की बात कही। प्रो. इन्द्र नारायण यादव ने अपने भविष्य के लिए काम करने की बात कही। डॉ. शांति यादव ने पिछड़े लेखकों की अपनी पहचान बनाने का सुझाव दिया।

राष्ट्रीय परिसंवाद समारोह में डॉ. विनय कुमार चौधरी, जयकांत ठाकुर, प्रमोद कुमार सूरज (मधेपुरा), प्रो. डॉ. विकास कुमार (अतिथि व्याख्याता, विनोवा भावे विश्वविद्यालय हजारीबाग) अवधेश प्रताप यादव (प्रधान सचिव मध्य प्रदेश विधान सभा) भोपाल। प्रो. भूपेन्द्र नारायण यादव 'मधेपुरी' प्रो. श्यामल किशोर यादव, हरिश चंद्र मंडल, प्रो. दयानंद यादव, डॉ. अविनाश कुमार, डॉ. जगदीश यादव ने भी अपनी बात कही।

प्रस्तुति : डॉ. गजेन्द्र कुमार, जिला सचिव, भारतीय जन लेखक संघ

मैं सचमुच आपका बहुत आभारी हूँ आपने 'मुक्तांचल' का यह नवीनतम अंक मुझे उपलब्ध कराया। एक बात और है कि यह पत्रिका खुले विचारों का मंच है, जिसका अपना कोई आग्रह-दुराग्रह नहीं है। 'असाध्य-वीणा' और 'सरोज-स्मृति' पर एक साथ चर्चा, मुक्तिबोध के वैचारिक परिप्रेक्ष्य से लेकर दुष्यंत के बाद की गजल की परंपरा पर एक साथ विचार करने का औदार्य कम ही पत्रिकाओं में दीखता है।

वैसे तो डॉ. सूर्य प्रसाद दीक्षित, प्रो. अवधेश नारायण मिश्र जैसे अधिकारी विद्वानों ने अपने-अपने विषय पर बहुत अच्छा लिखा है, मगर डॉ. जगदीश्वर चतुर्वेदी का संस्कृत समीक्षा शास्त्र पर लिखा निबंध इस अंक की उपलब्धि है। उन्होंने जिस स्वर में हिंदी आलोचकों की खिंचाई की है, वह स्वागत योग्य है। इस अंक में रामदरश मिश्र जैसी पुरानी पीढ़ी और यश मालवीय जैसे नई पीढ़ी के रचनाकारों को आपने एक जगह जुटाया है, वह भी प्रशंसनीय है। नवगीत के संदर्भ में प्रतिष्ठित नवगीतकार अनूप अशेष से राजा अवस्थी का साक्षात्कार भी महत्वपूर्ण है। कुशल संपादन के लिए मीरा जी को तथा आप सभी को बहुत-बहुत बधाई। **बुद्धिनाथ मिश्र, देहरादून**

आधुनिक कविता पर विशेष जुलाई-सितम्बर २०१६ का अंक कई मायनों में महत्वपूर्ण अंक है। यह काव्यानुरागियों के लिए सारगर्भित, विचारपरक तो है ही शोध छात्रों के लिए भी संग्रहणीय है। अक्टूबर-दिसम्बर अंक में आपकी संस्तुति पढ़कर आश्चर्य हुआ जिसमें आपने लिखा है कि कविता के विशेष अंक पर कुछ विशेष प्रतिक्रियाओं का अभाव रहा, जितनी इसकी सराहना होनी चाहिए थी नहीं हुई। मैं ऐसा नहीं मानता मेरी दृष्टि में पूरा अंक सुगठित, सुचयनित और रचनात्मक सामग्री से पूर्ण शानदार अंक है। अंक में संस्कृत काव्य से लेकर छायावाद, प्रयोगवाद, स्वछन्दतावाद, प्रगतिवाद, समकालीन नई कविता, नवगीत, गजल पर विचारपूर्ण आलेख हैं। काव्य की प्रवृत्तियाँ, समसामयिकता, भाषा-शैली, काव्य के स्तर पर बदलाव यह सब अनुशीलन, गवेषणा, विमर्श के स्तंभ आलेखों द्वारा व्याख्यायित है और यह सब को विशिष्ट बनाता है। सुधीर रंजन सिंह, देवनाथ सिंह आनंद गौतम के आलेख यश मालवीय के गीत 'मुक्तांचल' के गौरव बढ़ाते हैं। **शिवकुमार अर्चन, भोपाल**

'मुक्तांचल' का जुलाई-सितम्बर २०१६ अंक प्राप्त हुआ। आभार! वर्तमान साहित्यिक पत्रिकाओं में 'मुक्तांचल' अगर विशिष्ट स्थान बनाने की ओर अग्रसर है तो इसमें आपके परिश्रम, अध्यवसाय, कल्पना एवं रचनाकारों से संपर्क की बड़ी भूमिका है।

आलेख, अनुशीलन एवं विमर्श के अंतर्गत सभी सामग्रियाँ अत्यंत उच्चकोटि की हैं। पाण्डेय शशिभूषण शीतांशु का 'असाध्य वीणा' का पुनर्पाठ चिंतन की नवता से अनुप्राणित है। कविताएँ एक से बढ़कर एक हैं। कहानियाँ प्रभावकारी हैं। डॉ. कमल किशोर गोयनका से रवि शर्मा की बातचीत कई अनसुलझे प्रश्नों के उत्तर के रूप में सराहनीय है। कुल मिलाकर पत्रिका बहुत अच्छी लगी। पठनीय और संग्रहणीय। **डॉ. व्यास मणि त्रिपाठी, पोर्टब्लेयर, अण्डमान**

जैसे हिंदी कथा-साहित्य में बिना शोर-शराबे के दबे पाँव अपना स्थान सुरक्षित करने वालों में भीष्म साहनी, अमरकांत प्रभृति का नाम बेहिचक लिया जा सकता है वैसे ही हिंदी-साहित्य-जगत् में चुपचाप अपना स्थान सुरक्षित करने वाली पत्रिकाओं में 'मुक्तांचल' का नाम लेने में मुझे जरा भी हिचक नहीं है। बधाई! ऐसी पत्रिका में कौन अपनी रचना देखना नहीं चाहेगा? **पंकज साहा, खड़गपुर, प. बंगाल**

कविता केंद्रित 'मुक्तांचल' का जुलाई-सितम्बर अंक मनोयोगपूर्वक पढ़ गया। मुक्तांचल की सह संपादक डॉ. अर्चना पाण्डेय के सौजन्य से अंक प्राप्त हुआ था। कविता के संदर्भ में की गयी संपादकीय टिप्पणी नपी-तुली और विचारोत्तेजक है। कविता की परिभाषा पर विचार वैमत्य हो सकता है किंतु कवि और कविता के दायित्व के संबंध में लोगों की प्रायः एक ही राय होती है। महाप्राण निराला, अज्ञेय, मुक्तिबोध, सुमित्रानंदन पंत की महत्त्वपूर्ण कविताओं- सरोज स्मृति, असाध्य-वीणा, अंधेरे में एवं परिवर्तन- पर शोधपरक एवं व्याख्यात्मक लेख पढ़कर बड़ा अच्छा लगा। इस क्रम को चलाते रहें। इससे महत्त्वपूर्ण कवियों और उनकी महत्त्वपूर्ण कविताओं के विषय में लोगों को सही समझ मिलेगी और विचार-मंथन की प्रेरणा भी। डॉ. रामकुमार वर्मा की ख्याति एकांकी नाटकों को लेकर ही रह गयी है। लोग भूल गये हैं कि वे बहुत अच्छे कवि भी थे। 'एकलव्य' हिंदी साहित्य का महत्त्वपूर्ण प्रबंध काव्य है परंतु उसको वह ख्याति नहीं मिल सकी जो प्रिय-प्रवास, साकेत, कामायनी या उर्वशी को मिली। श्री शशिभूषण द्विवेदी ने एकलव्य के बारे में गहरी जानकारी दी है। वे धन्यवाद के पात्र हैं। अन्य सामग्री भी शोध परक है तथा साहित्यिक विमर्श के लिए आमंत्रण देती है। इन सब के लिए संपादिका डॉ. मीरा सिन्हा और अंक के सभी लेखक स्तुत्य एवं अभिनंदनीय हैं।

रामेश्वर नाथ मिश्र 'अनुरोध', दक्षिण २४ परगना, प. बंगाल

'मुक्तांचल' का अक्टूबर-दिसम्बर २०१६ अंक मिला। धन्यवाद! यह निस्संदेह बेहतर लगा। इसमें प्रकाशित अरुण कुमार, शशिभूषण द्विवेदी, वर्षा गायकवाड़, आनंद प्रसाद दीक्षित आदि के लेख ज्यादा पसंद आये। अन्य सभी पठनीय लगे। जहाँ तक इस अंक में प्रकाशित कहानियों की बात है, मुझे आनंद सिन्हा, राणा प्रताप और सिद्धेश, तीनों की कहानियाँ अलग-अलग स्वर और कथा की होने के बावजूद अपने ट्रीटमेंट को लेकर उल्लेखनीय लगीं। यों आनंद सिन्हा की कहानी पढ़कर ६७ के आस-पास के परिदृश्य का स्मरण हो आया। आपने उस काल के दोनों कवियों धूमिल और पाषाण की कविताएँ प्रकाशित कर अच्छा किया। **रामनिहाल गुंजन, आरा, बिहार**

केंद्रीय हिंदी संस्थान
मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार

संपर्क: हिंदी संस्थान मार्ग, आगरा-282005, फोन: 0562-2530684, वेबसाइट: www.hindisansthan.org, www.khsindia.org

संक्षिप्त परिचय

केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार के शिक्षा विभाग द्वारा 1961 ई. में स्थापित एक स्वायत्त शैक्षिक संस्था है। इसका संचालन स्वायत्त संगठन केंद्रीय हिंदी शिक्षण मंडल द्वारा किया जाता है। संस्थान का मुख्यालय आगरा में स्थित है और इसके आठ क्षेत्रीय केंद्र: दिल्ली, हैदराबाद, गुवाहाटी, शिलांग, मैसूर, दीमापुर, भुवनेश्वर तथा अहमदाबाद में हैं।

संस्था के प्रमुख उद्देश्य-

■ भारतीय संविधान के अनुच्छेद 351 के अनुपालन में अखिल भारतीय भाषा के रूप में हिंदी का विकास करते हुए इसके विकास और प्रसार की दृष्टि से उपयोगी शैक्षणिक पाठ्यक्रमों की प्रस्तुति एवं संचालन ■ विभिन्न स्तरों पर गुणवत्तापूर्ण हिंदी शिक्षण का प्रसार, हिंदी शिक्षकों का प्रशिक्षण, हिंदी भाषा और साहित्य के उच्चतर अध्ययन का प्रबंधन, हिंदी के साथ विभिन्न भारतीय भाषाओं के तुलनात्मक भाषा वैज्ञानिक अध्ययन को प्रोत्साहन और हिंदी भाषा एवं शिक्षण से जुड़े विविध अनुसंधान कार्यों का आयोजन अपने विभिन्न पाठ्यक्रमों में अध्ययनरत विद्यार्थियों के लिए परीक्षा आयोजन तथा उपाधि वितरण ■ संस्थान की प्रकृति एवं उद्देश्यों के अनुरूप उन अन्य संस्थाओं के साथ जुड़ना या सदस्यता ग्रहण करना या सहयोग करना या सम्मिलित होना, जिनके उद्देश्य संस्थान के उद्देश्यों से मिलते-जुलते हों और इन समान उद्देश्यों वाले संस्थानों को संबद्धता प्रदान करना ■ समय-समय पर नियमानुसार अध्येतावृत्ति (फेलोशिप), छात्रवृत्ति और पुरस्कार, सम्मान पदक की स्थापना कर हिंदी से संबंधित कार्यों को प्रोत्साहन आदि।

संस्थान के कार्य-

● **शिक्षणपरक कार्यक्रम :** (i) विदेशी विद्यार्थियों के लिए हिंदी शिक्षण, (ii) हिंदीतर राज्यों के विद्यार्थियों के लिए अध्यापक प्रशिक्षण पाठ्यक्रम, (iii) नवीकरण एवं संवर्द्धनात्मक कार्यक्रम (iv) दूरस्थ शिक्षण कार्यक्रम (स्ववित्तपोषित), (v) जनसंचार एवं पत्रकारिता, अनुवाद अध्ययन और अनुप्रयुक्त हिंदी भाषाविज्ञान के सांध्यकालीन पाठ्यक्रम (स्ववित्तपोषित)

● **अनुसंधानपरक कार्यक्रम :** (i) हिंदी शिक्षण की अधुनातन प्रविधियों के विकास के लिए शोध, (ii) हिंदी भाषा और अन्य भाषाओं का तुलनात्मक व्यतिरेकी अध्ययन, (iii) हिंदी भाषा और साहित्य के क्षेत्र में आधारभूत एवं अनुप्रयुक्त अनुसंधान, (iv) हिंदी भाषा के आधुनिकीकरण और भाषा प्रौद्योगिकी के विकास के उद्देश्य से अनुसंधान, (v) हिंदी का समाज भाषा वैज्ञानिक सर्वेक्षण और अध्ययन, (vi) प्रयोजनमूलक हिंदी से संबंधित शोधकार्य। अनुसंधानपरक कार्यों के दौरान द्वितीय भाषा एवं विदेशी भाषा के रूप में हिंदी शिक्षण के लिए उपयोगी शिक्षण सामग्री का निर्माण।

● **शिक्षण सामग्री निर्माण और भाषा विकास :** (i) हिंदीतर राज्यों और जनजाति क्षेत्र के विद्यालयों के लिए हिंदी शिक्षण सामग्री निर्माण, (ii) हिंदीतर राज्यों के लिए हिंदी का व्यतिरेकी व्याकरण एवं द्विभाषी अध्येता कोशों का निर्माण, (iii) विदेशी भाषा के रूप में हिंदी शिक्षण पाठ्यपुस्तकों का निर्माण, (iv) कंप्यूटर साहित्य हिंदी भाषा शिक्षण सामग्री का निर्माण, (v) दृश्य-श्रव्य माध्यमों से हिंदी शिक्षण संबंधी पाठ्यसामग्री का निर्माण, (vi) हिंदी तथा हिंदीतर भारतीय भाषाओं में द्विभाषी/त्रिभाषी शब्दकोशों का निर्माण।

संस्थान के प्रकाशन : हिंदी भाषा एवं साहित्य, भाषाविज्ञान, अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान, तुलनात्मक एवं व्यतिरेकी अध्ययन, भाषा एवं साहित्य शिक्षण, कोश विज्ञान आदि से संबद्ध विभिन्न विषयों पर उपयोगी पुस्तकों का प्रकाशन। अब तक 150 से अधिक पुस्तकें प्रकाशित। विभिन्न स्तरों एवं अनेक प्रयोजनों की पाठ्यपुस्तकों, सहायक सामग्री तथा अध्यापक निर्देशिकाओं का प्रकाशन। त्रैमासिक पत्रिका- 'गवेषणा', 'मीडिया' और 'समन्वय पूर्वोत्तर' का प्रकाशन।

पुस्तकालय : भाषाविज्ञान, अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान, भाषा शिक्षण और हिंदी साहित्य के विभिन्न विषयों की पुस्तकों के विशेषीकृत संग्रह की दृष्टि से हिंदी के सर्वश्रेष्ठ पुस्तकालयों में से एक। लगभग एक लाख पुस्तकें। लगभग 75 पत्र-पत्रिकाएँ (शोधपरक एवं अन्य)।

संस्थान से संबद्ध प्रशिक्षण महाविद्यालय : हिंदी शिक्षण-प्रशिक्षण के स्तर को समुन्नत करने तथा पाठ्यक्रम में एकरूपता लाने के उद्देश्य से उत्तर गुवाहाटी (असम), आइजोल (मिजोरम), मैसूर (कर्नाटक), दीमापुर (नागालैंड) के राजकीय हिंदी शिक्षक-प्रशिक्षण महाविद्यालयों को संस्थान से संबद्ध किया गया है।

योजनाएँ : ■ भारतीय सांस्कृतिक केंद्र, कोलंबो में सिंहली विद्यार्थियों के लिए केंद्रीय हिंदी संस्थान के पाठ्यक्रम की 2007-08 से शुरुआत ■ अफगानिस्तान के नानगरहर विश्वविद्यालय (जलालाबाद) में संस्थान द्वारा निर्मित बी.ए. का पाठ्यक्रम 2007-08 से प्रारंभ ■ विश्व के कई अन्य देशों (चेक, स्लोवानिया, यू.एस.ए., यू.के., मॉरिशस, बेलजियम, रूस आदि) के साथ शैक्षणिक सहयोग और हिंदी पाठ्यक्रम संचालन के संबंध में संवाद जारी ■ हिंदी के बहुआयामी संवर्धन के लिए हिंदी कॉर्पोरा परियोजना, हिंदी लोक शब्दकोश परियोजना, भाषा-साहित्य सीडी निर्माण परियोजना, पूर्वोत्तर लोक साहित्य परियोजना तथा लघु हिंदी विश्वकोश परियोजना पर कार्य।

-डॉ. कमल किशोर गोयनका

उपाध्यक्ष, के.हि.शि.म.

ई-मेल : kkgoyanka@gmail.com

-प्रो. नन्द किशोर पाण्डेय

निदेशक

ई-मेल : nkpandey65@gmail.com

directorofkhs@yahoo.co.in

इस पार तक...

निर्मला जैन



जीवन में मूल्य-बोध और विचारधारात्मक चिंतन का जिस हद तक क्षरण हुआ है, उसका प्रभाव साहित्यिक गतिविधि में सबसे अधिक आलोचना कर्म पर पड़ा है। उसके मुख्य दायित्व-प्रतिमानों का कमोबेश निर्धारण, पूर्ववर्ती रचनाओं का पुनःपाठ नई कृतियों की विवेक-सम्मत व्याख्या और अन्ततः उनका मूल्यांकन, गौण हो चले हैं। बचा है प्रायोजित विवरणधर्मी प्रशंसात्मक समीक्षाओं का अम्बार। ऐसा करना या फिर आलोचना कर्म से विरत हो जाना गंभीर आलोचक की विवशता हो गई है। क्योंकि वस्तुनिष्ठ आलोचना का आग्रह तो बहुत है पर उसे सहने की ताब नहीं के बराबर। अगर आलोचना अनुकूल नहीं है, तो बदनियती या नासमझी से प्रेरित मानी जाएगी। यानी आलोचना के राजमार्ग पर वही चले जिसने बचाव के रास्ते पहले खोज रखे हों। वरना करिए लोकार्पण/विमोचन, पाइए पुष्पगुच्छ, दीजिए आशीर्वाद-पानेवाला प्रसन्न और देनेवाला निरापद। और लिखने-छपने का व्यपार यूँ ही फलता-फूलता रहे-घालमेली, ब्रांडधर्मी रचनाओं से।

ऐसे माहौल में आलोचना अकाल-ग्रस्त होने के लिए अभिशप्त है। पर दूर-दूर तक फैले इस रेगिस्तान में हरियाली के जो कुछ द्वीप नजर आ रहे हैं, उन्हें चीन्हते और उनकी उपस्थिति दर्ज करते रहना भी उतना ही जरूरी है क्योंकि भविष्य तो आखिर इन्हीं में निहित है।

हिंदी आलोचना का दूसरा पाठ (भूमिका)

RNI NO. WBHIN/2014/70173

हावड़ा विद्यार्थी मंच के लिए प्रकाशक आनंद कुमार सिन्हा और मुद्रक गोपी कृष्ण पालुई,
शिक्षण, 50 सीताराम घोष स्ट्रीट, कोलकाता से मुद्रित एवं 6/2/1 आशुतोष मुखर्जी लेन,
सालकिया, हावड़ा- 711106 से प्रकाशित।
संपादक : डॉ. मीरा सिन्हा